हिन्दी में पी-एच०डी० हेतु बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय में प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

आधुनिक हिन्दी कविता में मिथकीय संयोजना

सत्र-2006-07

शोध निर्देशक
(डॉ० दिनेश चन्द्र द्विवेदी)
रीडर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
गांधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई

अनुसंधित्सु
(श्रीमती ममता द्विवेदी)

शोध केन्द्र :- गांधी महाविद्यालय, उरई (जालौन)

आधुनिक हिन्दी कविता में मिथकीय संयोजना

अनुक्रमणिका

स्वस्ति

प्रशस्ति ऐतिहासिक धरातल वाले प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में मिथकों का अस्तित्व परिलक्षित होता है। यहाँ तक कि आज का वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक युग भी मिथकीय सन्दर्भों से रहित नही है। कला और साहित्य के एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में इसकी सम्यक् प्रतिष्ठा अभिनव घटना है क्योंकि दीर्घकाल तक मिथक को पौराणिकता, ब्रहममीमांसा, अथवा धार्मिक विश्वासों से जोड़ा जाता रहा है। कहना न होगा कि मिथक का अस्तित्व कल भी था आज भी है। और कल भी रहेगा इसके बिना मानवीय तथ्य की ध्रुवान्तव्यापी संभावनाएं सम्यक् सफल नहीं हो सकती|अनुसंधित्सु ने मिथक के विभिन्न आयामों और सन्दर्भों को तर्कपूर्ण ढ़ग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

प्रथम अध्याय में विषय प्रवेश के साथ मिथक के अर्थ तथा मिथक के पारंपरिक सन्दर्भो को व्याख्यायित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में मिथक के संश्लेषणात्मक परिशीलन के अन्तर्गत मिथक के धर्म निरपेक्षीकरण इतिहास की अवधारणा और मिथक, मिथक और मनस्तत्व तथा भाषा और मिथक की गवेषणात्मक परिचर्चा की गयी है।

तृतीय अध्याय में सामाजिक सन्दर्भ और मिथक पर प्रकाश डालते हुए लोक मंगल और मिथक तथा प्रतिगामी प्रभाव और मिथक के विविध परिप्रेक्ष्यों का अनावरण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में साहित्य एक संक्षिप्त मीमांसा की समीक्षात्मक परिचर्चा करते हुए कला और साहित्य, साहित्य की विविध विधाएं, साहित्य के सामाजिक सरोकार तथा सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् और साहित्य की सम्यक् मीमांसा की गई है।

पंचम अध्याय में आधुनिक कविता में मिथकीय विधान के अनुसंधानपरक अनुशीलन के अन्तर्गत प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, राम की शक्ति पूजा, रश्मिरथी, उर्वशी, अन्धायुग, एक कंठ विषपायी, नागार्जुन की कविता, कितनी नावें कितनी बार, भूरी-भूरी खाक धूल, संसद से सड़क तक, सुदामा पाण्डेय का लोकतन्त्र, नयी कविता का आधुनिकतावादी संसार जैसी रचनाओं का शोधपरख, परिवेक्षण किया गया है।

षष्ठ अध्याय में परिशिष्ट के अन्तर्गत उपजीव्य – ग्रन्थ, उपस्कारक ग्रन्थ, तथा पत्र–पत्रिकाओं की सूची प्रस्तुत की गई है।

इस शोध यात्रा में विषय चयन, रूप रेखा तथा अनुसंधान के ध्रुवान्त तक पहुंच सकने में मेरे गुरूवर डा0 दिनेश चन्द्र द्विवेदी के शुभाशीष के प्रति आभार प्रदर्शन करना, उनके प्रति मेरी आत्मीय श्रद्धा का अगम्भीर प्रदर्शन होगा।

मैं अपनी स्वर्गीय माता श्रीमती विद्या द्विवेदी तथा कीर्ति शेष पिता श्री ज्ञान चन्द्र द्विवेदी के प्रति श्रद्धावनत हूँ। मैं अपने जीवन साथी श्री राजेन्द्र कुमार द्विवेदी के प्रति कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने शोधकालीन हताशा तथा थकान के समय मेरा उत्साह वर्धन करके मुझे लक्ष्य तक पहुंचाने में सहायता की।

मैं अपनी पुत्री कुमारी अपूर्वा द्विवेदी के प्रति वात्सल्यमयी हो उठती हूँ। उसने शोधकार्य के दौरान पुस्तको के चयन और खोज में मेरी सहायता की। मैं अपने पुत्र आयुष द्विवेदी के प्रति ममतामयी हूँ। वह बाल–सुलभ चेषटाओं द्वारा मेरी थकान को दूर करता रहा। मैं अपने परिजनों, मित्रों तथा अनेक अपरिचित सहयोगियो के प्रति भी आभारी हूँ, जिनकी सद्भवनायें मुझे सतत् प्रेरणाएं देती रही हैं।

मैं विभिन्न विख्यात, अल्पख्यात, अख्यात विद्वानों के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ जिनके उपजीव्य तथा उपस्कारक ग्रन्थों की सामग्री का मैंने अपने शोधकार्य में उपयोग किया है।

अनुसंधित्सु

श्रीमती ममता द्विवेदी

प्रमाण पत्र

मुझे प्रमाणित करते हुये हर्ष है कि श्रीमती ममता द्विवेदी ने बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी द्वारा स्वीकृत शोध विषय **आधुनिक हिन्दी कविता में मिथकीय संयोजना** पर निरन्तर मेरे सम्पर्क मे रहकर अनुसंधान कार्य सम्पन्न किया है। इस उपक्रम में इन्होने विश्वविद्यालय शोध परिनियमावली के सभी उपबन्धों का पूर्ण पालन किया है। यह इनका मौलिक अनुसन्धान कार्य है। मैं इस शोध प्रबन्ध को विशेषज्ञों के समक्ष प्रस्तुत करने की अनुशंसा के साथ अनुसंधित्सु के ज्योर्तिमय भविष्य की कामना करता हूँ।

डा0 दिनेशचन्द्र द्विवेदी

रीडर एवं अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)

गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय उरई

(उ0प्र0)

प्रथम - अध्याय

आधुनिक हिन्दी कविता में मिथकीय संयोजना

विषय-प्रवेश

मिथक : एक समाकलन

प्रथम अध्याय

आधुनिक हिन्दी कविता में मिथकीय संयोजना

विषय प्रवेश

मिथक : एक समाकलन

(क) मिथक का अर्थ –

दुनिया के हर एक समाज में, जिसका लंबा इतिहास है, पिछले हजारों वर्षो से लगातार मिथकों का निर्माण होता आया है और इसमें संदेह नही कि वैज्ञानिक प्रौद्योगिक विकास की उच्चतर मंजिल पर पहुँचे। आधुनिक समाज में भी, भले भिन्न उद्देश्य से, मिथक का नया निर्माण और प्रयोग जारी है।[1] फिर भी कला और साहित्य के एक महत्वपूर्ण विषय के रुप में इसकी प्रतिष्ठा हाल की घटना है, क्योकि दीर्घ समय तक इसे पौराणिक कथा, ब्रह्ममीमांशा या सांप्रदायिक, धार्मिक विश्वास के रुप में देखने समझने की परंपरा थी। बीच में जब कभी तर्क का तूफान उठा, मिथक को झूठ या गप्प भी घोषित किया गया। दोनों ही धरातल पर मिथक के अर्न्तनिहित ऐतिहासिक आशय एवं सौन्दर्यात्मक रुप की उपेक्षा हुई। कहने वालों ने मिथक को तर्क बुद्धि का शत्रु कहा।[2]

---

1. मिथक और आधुनिक कविता –शंभुनाथ–भूमिका
2. मिथक और आधुनिक कविता –शंभुनाथ–भूमिका

सच पूछा जाय, तो नवजागरण के बाद बुद्धिवादी ,राष्ट्रीय और प्रगतिशील आन्दोलनों में व्यापकता के साथ ही मिथकों की विरासत का पुनः आविष्कार हुआ।

मिथक की विवेचना के इतिहास में उस घड़ी एक मोड़ आया, जब सिर्फ लोक–विश्वास की जमीन से नही बल्कि इतिहास भाषा–शास्त्र समाजशास्त्र, मनोविज्ञान ,कियात्मक संरचनावाद आदि विकसित ज्ञान –विज्ञान के औजारों द्वारा मिथक की जांच और व्याख्या की परम्परा स्थापित हुई । जो बुद्धिवादी विचारक परम्पराद्रोही न थे और अपने–अपने देश की सांस्कृतिक विरासत महत्व समझते थे, उन्होने इस धारणा का खंडन किया जो कुछ झूठ ,गप्प, क्रमहीन, अतार्किक या अयथार्थ है, वही मिथक है। नवजागरण की बौद्धिक छत्रछाया में मिथक की चर्चा के केन्द्र मे यह सवाल मुख्य न था कि मिथक सच है या नहीं । मुख्य सवाल यह था कि प्राचीन देवकथाओं और अन्य पुरावृत्तों का मूल आशय क्या है, वे कथायें वस्तुतः क्या उपस्थित करती हैं। बुद्धिवाद की रोशनी में अब साफ था कि कथाओं का बाहरी ढांचा झूठा है, लेकिन यह भी साफ हो चला था कि इनका आशय झूठा नही है।[3] एक न एक गूढ़ या अमूर्त ऐतिहासिक सच्चाई हर कथा के मुखौटे के अन्दर मौजूद है। इस काल में, मिथक खूब जोर–शोर से बुद्धिवादी औजारों द्वारा प्रतीकात्मक व्याख्या के विषय बने और काव्य में भी इनके प्रयोग जमकर हुए ।

---

3. कविता का सृजन और मूल्यांकन–डॉ0 सुधेश–पृ0–41

इस प्रक्रिया में आगे चलकर साम्राज्यवाद के बौद्धिक असर के कारण कुछ ऐसी धारणाएं भी विकसित हुई, जो मिथक की विवेचना को सांस्कृतिक विरासत के पुनः आविष्कार के क्षेत्र में घसीटकर एकांगी बुद्धिवाद के नियंत्रण में ले जाती थी। परिणाम स्वरुप मिथक की संकीर्ण वैज्ञानिक व्याख्या सामने आयी । एकांगी बुद्धिवाद ने अनेक कमाल दिखाए और साम्राज्यवाद का मकसद पूरा किया। आधुनिकतावादी आलोचकों ने भाषा और समाज की परम्परा को पहचानने के नाम पर वस्तुतः इनकी खूबियों को ढक दिया। साम्राज्यवाद का मकसद ही है,परम्परा के खूबियों को ढ़कना, तोड़ना, फोड़ना या नष्ट करना।[4]

तुलनात्मक मिथक शास्त्र द्वारा दो या दो से अधिक संस्कृतियों के मिथक की तुलना करके वैश्विक नियमों की खोज भी की गयी। मानवता के विकास के समान ऐतिहासिक पथ के बारे में जो अनेक विवेचनाऐं हुई है, उनमें से अधिकांश की भित्ती भाषा–शास्त्र है। इसमें संदेह नही है कि मिथक एक वैश्विक सांस्कृतिक मामला है तथा कुछ सामान्य तत्व दुनिया के हर समाज के मिथक में है। फिर भी हर समाज के लोगों के खास विश्वास और रुख की पहचान बनती है : इनके जिये हुये यथार्थ और आदर्श का पता चलता है तथा उनके सांस्कृतिक पुर्नरचना के निरन्तर प्रयास का भी एहसास होता है।[5]

हर युग में लोगों ने मिथको को नये स्तर पर जिया और

---

4. रचना के सरोकार–रत्नेश कार्तिक–पृ0–14
5. कविता का सृजन और मूल्यांकन डॉ0 सुधेश–पृ0–44

कलात्मक अभिव्यक्ति दी। कृष्ण की बॉसुरी पता नही मूलतः किस रुप में बजी होगी, लेकिन हर ऐतिहासिक युग में लोगों ने उसमें अपने समय की धुन सुनी। राम कों उन्होंने पुरातन नहीं, अपने नये उद्देश्य की सिद्धि के लिये वन भेजा और शंकुन्तला को अपनी सौन्दर्यमयी भावना के रंग में जाना। कभी आदमी उस दिक्काल में था, जब सूरज के सात घोड़े हिनहिनाते थे। पर सभ्यता की लम्बी यात्रा में आज वह कारखाना साइरन की आवाज सुनता है, इधर—उधर रंग—बिरंगे विज्ञापन देखता है, दफ्तर और बाजार जाता है, चुनाव के नारे पढ़कर—भाषण सुनकर मतदान में भाग लेता है, सूखा और बाढ़, लू और शीतलहरी, अस्पताल और कचहरी में घिरता है, खेलकूद और आंदोलन में शामिल होता है, कहीं युद्ध और कहीं आतंकवाद की दहशत झोलता है, विकसित संचार — माध्यम के साहित्यिक —सांस्कृतिक निर्माणों से गुजरता है— आज भी आदमी मिथकों की उतनी ही भरी—पूरी दुनियाँ में जीता है, भले उसमें सूरज के सात घोड़ों की उत्फुल्ल और निष्कलंक हिनहिनाहट की जगह अब बेचैनी, पीड़ा और त्रासदी का राज्य अधिक विस्तृत होता जा रहा हो।[6]

प्राचीन समाज के मिथक की तुलना में आधुनिक समाज के मिथक अधिक चतुर, कलात्मक तथा उद्देश्यपूर्ण है। साइरन की आवाज ,विज्ञापन व्यवसाय ,नारे भाषण मौसम ,नौकरशाही ,खेलकूद आंदोलन ,युद्ध ,आतंकवाद , अखबार फिल्म टी0वी0 के दृश्य आदि

---

6. रचना के सरोका—रत्नेश कार्तिक—पृ0—21

वस्तुतः जो बाह्य रुप प्रस्तुत करते है। अगर हम सिर्फ उतना ही देखकर संतुष्ट रह जाएं तो सच्चाई कभी नही जान सकते। ये सारे के सारे रुप मिथकीय है, जिनका अपना खास अभिप्राय है। आधुनिक मिथकीय रुपों की एक खूबी है कि ये प्राचीन मिथकीय रुपों की भांति दीर्घजीवी नही है। आंतरिक जीवन शक्ति के अभाव में इन्हें विकसित युक्तियों द्वारा जल्दी–जल्दी अपना चेहरा बदलना पड़ता है, ताकि कि बुर्जुआ समाज के मिथकीय रुपों के अंतर्निहित आशय और कार्य आसानी से पकड़ में न आये।

नवजागरण के बाद मिथक के पुनः आविष्कार और विवेचना का जो बुद्धिवादी सिलसिला बीसवीं शताब्दी में नये उत्साह से आरम्भ हुआ, वह सही मार्ग पर आगे न बढ़ सका। ऐसे वैचारिक औजार निर्मित करने के स्थान पर जिनसे समाज के दीर्घजीवी परंपरागत मिथक तथा शीघ्र परिवर्तनशील नये मिथक के अंर्तनिहित आशय तथा कार्य की ऐतिहासिक सौन्दर्यात्मक व्याख्या हो सके, ऐसे मिथक –दर्शन बनने लगे, जिनके आधीन मिथक को मानवीय चेतना का स्वतंत्र रुप, रिचुअल, फतांसी, स्वप्न –प्रतीक, अद्यरुप, आत्मपरिपूर्ण प्रतीकात्मक भाषा, आदिम समाज के विषय, साहित्यिक कच्चा माल, शोषक वर्ग का हथियार आदि कहा गया। इतिहास और समाज के सबसे विराट सौन्दर्यात्मक रुप एवं सांस्कृतिक परम्परा को जांचने के ये सभी परिप्रेक्ष्य गलत या अधूरे थे।[7]

---

7. मिथक और आधुनिक कविता–शंभुनाथ–पृ0–15

मिथक की आधुनिक व्याख्या परम्परा न केवल गहरी समझ है, बल्कि इसकी पुनर्रचना भी है, खास तौर पर जो ये सोचते है कि आधुनिक समाज में मिथक मरे नही हैं, पर बुर्जुआ शोषक वर्ग के छद्मवेशी आत्मप्रचार के हथियार बन चुके है, उन्हें ठीक से विचार करना चाहिए कि वे क्या कर रहें है। वे वस्तुतः परम्परा को ही नकार रहे है या बुर्जुआ—जमींदार वर्ग के हाथ में उसे निचुडते व बिखरते देखकर आत्मतृप्त है। मिथक में अर्थ तभी हो सकता है, जब उसकी संरचना का कोई आर्थिक अथवा सामाजिक तर्क हो। एक ही मिथक के इतने अधिक पाठांतरित रुप मिलते है और कुछ इस हद तक विरुपित स्तर पर मिलते है कि इनकी सामान्य संरचना निर्धारित करके निश्चित अर्थ खोजना एक मुश्किल व्यापार हो जाता है। साहित्यिक मिथकों को उनके सामान्य अथवा बुनियादी सामाजिक स्वरुप से विच्छिन्न करके देखा जाये, तब मिथको का सही अर्थ खुलने में और अधिक बाधाऐं आती है, क्योंकि कला—साहित्य के मिथक अपनी कल्पनाशील संस्कृति के ऐतिहासिक विकास के बाहर रहकर नहीं बनते । उनकी रचना प्रक्रिया गहरे सामाजिक —विश्वासों से जुड़ी रहती है। अतः मिथक में सिर्फ संरचना नही होती, एक सामाजिक अंर्तवस्तु भी होती है। मिथक की संरचना में परिवर्तन होता रहता है। उसके भीतर से कुछ न कुछ हमेशा निकलता और जुड़ता रहता है, मिथक द्वारा हर सामाजिक यथार्थ के नये—नये प्रतीकात्मक

या सांकेतिक रुप तब से व्यक्त हो रहे हैं, जब से मनुष्य ने कुछ कहना शुरु किया : काव्यात्मक शब्द अथवा कोई कथा। मिथक का अर्थ उस कथ्य में निहित है जो मनुष्य व्यक्त करना चाहता है, जिस भाषा में व्यक्त करना चाहता है , वह भले अवैज्ञानिक अथवा सतह पर झूठी लगे, किन्तु उसका कथ्य सच्चाई से भरा होता है। मिथक को मनुष्य के ऐतिहासिक अस्तित्व का सामाजिक कथ्य मानना चाहिए।[8]

मिथक को गप्प, मिथ्या और चमत्कारपूर्ण कथा मानने की बात या इसे आदिम मनोजगत या पौराणिक कथाओं तक सीमित कर देने की मान्यता काफी घिस चुकी हैं। प्रौद्योगिक समाज के आधुनिक मनुष्य की मिथक—रचना की पद्धति पहले से भिन्न जरुर हैं और आज रुप कथा की अपेक्षा संकेतों से अधिक काम चलाया जा रहा हैं, फिर भी मानवीय जीवन और कला में परम्परागत और नये मिथक पूरी तरह मौजूद है। हर व्यवस्था में बहुत से मामले होते है, जिन्हें गणित की तरह साफ ढ़ंग से नही कहा जा सकता। मिथक द्वारा ऐसे मामले व्यक्त होते है। उसके शब्दों का अर्थ भीतर की मिथकीय संरचना में होता है, जिसे सामूहिक विश्वासो की एक परम्परा से जुडे लोग बडी आसानी से समझाते है, वे उसकी संवेदना के साथ जल्दी घनिष्ठ हो जाते है। इसलिये वे आधुनिक कला—साहित्य में मिथक का प्रयोग अधिक हुआ है। ज्यादा अच्छी कवितायें मिथक को आधार बनाकर

---

8. साहित्य और मिथक—गौरीनाथ नौटियाल—पृ0—27

लिखी गयी है। मिथकविता ने हर साहित्य में अपना ऊंचा स्थान बनाया है। वह अधिक लोगों तक पहुँची । उसके माध्यम से किसी जाति के सामाजिक मनोविज्ञान, अर्थव्यवस्था और कला के सौन्दर्य–बोध को समझने में भारी मदद मिली है। इन सबके बावजूद साहित्यिक अथवा समाजशास्त्र स्तर पर ऐसे बहुत कम काम हुए है , जिनसे मिथक की सही अवधारणा बन सके। इसे धार्मिक अंतर्वस्तु, क्रियाअनुष्ठान, आदिम मनोविज्ञान, इतिहासविरोधी व्यापार तथा अबौद्धिक उत्पादन ही अधिक कहा गया है। विश्व या सामान्य सामाजिक जीवन के प्रति संरचनात्मक और कार्यधारात्मक मानवीय रूख के रूप में मिथक को जांचने की परम्परा साहित्य में भी बहुत क्षीण रही हैं।[9]

मिथक जातीय अतीत का सबसे बड़ा खजाना हैं। इसकी सार्थकता के सवाल पर मिथकशास्त्र ही नही, इतिहास, भाषाविज्ञान ,नृतत्वशास्त्र, दर्शन और समाजशास्त्र के क्षेत्रों में अभी तक बहस चल रही है। अंग्रेजीं 'मिथ' से ही हिन्दी मे 'हजारी प्रसाद द्विवेदी' ने मिथक शब्द चला दिया। उसका मूल स्त्रोत ग्रीक 'मुथोस' और लैटिन का 'मिथास' है, जिसका अर्थ होता था शब्द, कथा या कहानी। 'लोगोस' के सीधे और संगतियुक्त वक्तव्य से भिन्न अर्थ में 'मुथोस' का इस्तेमाल किया जाता था। साहित्यक आलोचना के अन्तर्गत इसे 'कथानक' के अर्थ में भी ग्रहण किया गया। 'भगवतशरण उपाध्याय' ने मिथक का एक स्त्रोत संस्कृत का 'मिथ' माना, जिसका अर्थ

---

9. साहित्य और मिथक–गौरीनाथ नौटियाल–पृ0–28

है—'रहसि' (जिससे रहस्य बनता है), अर्थात एकांत, निर्जनता। उन्होने "मिथ" के विनयस्त संयोग में 'मिथुन' की ओर संकेत किया, जिसके प्रमाण हैं संस्कृत का समूचा ललित साहित्य और भारतीय मन्दिर। मिथुन विपरीतलिंगी जोड़ें को कहते है। इससे 'क्लाड लेबी स्ट्टास' के "विरुद्धों के युग्म" की संगति बैठती है। उसका कहना है कि हर मिथक में जीवन मृत्यु, सकारात्मक—नकारात्मक पितृसत्ता—मातृ सत्ता, शांति—युद्ध, स्त्री—पुरुष के युग्म मिलते हैं। इस युग्म के क्रिया—व्यापारों से ही मिथक की संवेदना तक सीमित रखना उचित नही है। गो कि जीवन की सामाजिक प्रक्रिया में मैथुन स्त्री—पुरुष के बीच का एक मुख्य अंतर्सबंध है। किन्तु औरत से नातेदारी के अलावा व्यक्ति के सामाजिक होने के समान रुप से कुछ और जरुरी आधार भी हैं। उसे दूसरों को अन्य बहुत कुछ देना पड़ता है और उनसे लेना भी होता है। वह वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय करता है। वह भाषा की विविध तरह की सामाजिक सौन्दर्यबोधात्मक संरचनाओं में विचारों का आदान—प्रदान करता है। यौन—संबंध वस्तु और सेवायें, भाषा सामाजिक जीवन के इन सभी तरह के विनिमय रुपों से मिथक की कलात्मक संरचना का संबंध है। मिथकों में उपरोक्त तरह के विनिमयों के चरित्र का विकास अन्वेषित किया जाय, तभी उनका वास्तविक अर्थ प्रकट होगा, क्योंकि मिथको में सामाजिक यथार्थ का ही कलात्मक प्रतिफलन होता है।

एक अच्छे फ्रेंच शब्दकोश में "मिथ" का अर्थ बतलाया गया है— "जिसका यथार्थतः अस्तित्व नहीं है।" ठीक दूसरी जगह कहा गया है कि राजनीति में न्याय भी एक मिथक है। विश्व संस्कृति के विकास क्रम में "मिथ" के अर्थ का कभी अत्यधिक संकुचन हुआ और प्रसार। कार्नफोर्ड ने लिखा है कि वास्तविक मिथक रचना के आदिम स्तर के बाद एक ऐसा संक्राति काल आया, जिसमें पुराने जीवन के वे बिंब और प्रतीक अपने मूल अर्थ से निकलकर रुपक या रुपककथा बनने लगे। अंततः एक ऐसा वक्त भी आया, जब बौद्धिक सोच इतनी तेजी से विकसित होने लगी कि पूरी जाति ही मिथक शास्त्र के स्वप्न से जाग उठी। "लोगोस" ने "मुथोस" की जगह ले ली। उक्तियां सीधी कही जाने लगी। मिथकीय संवेदना को अबौद्धिक कहने के पीछे पच्चीस सौ वर्ष पूर्व की ग्रीक हठकारिता थी, जिसने काफी नुकसान पहुंचाया। जबकि सम्पूर्ण विश्व साहित्य में ग्रीक मिथक काफी लोक—प्रिय रहे हैं। ग्रीक संस्कृति का इतिहास तो वस्तुतः मिथकों के प्रति उसके विकासशील रुख का इतिहास रहा है। पांच शताब्दी ईसा पूर्व 'इक्सेनोफेंस' ने 'होमर तथा हेलियड' के काव्य की मिथकीय अभिव्यक्ति को नकारा। उसमें मिथकीय चेतना को इतिहास निरपेक्ष तथा बौद्धिकता विहीन सिद्ध किया। कार्नफोर्ड ने इसी घटना को महत्व दिया है, जबकि हमें मालूम है कि प्लेटों ने कवियों को बुरा—भला कहने के बावजूद मिथक की भूमिका सामाजिक व्यवहारों में पुनर्स्थापित की थी। इयुहेमरस ने

भी 400 ई0 पूर्व ग्रीक मिथकों की नई व्याख्या प्रस्तुत करके सिद्ध कर दिया था कि देवता और कोई नही, मनुष्य ही थे ,जिन्होंने प्रागैतिहासिक अथवा मिथकीय काल में अपने महत्‌ कार्यो एवं उपलब्धियों के बल पर आत्मिक ऊंचाई हासिल की थी। मिथक का इतिहास, वास्तविकता और मानवीय दशाओं से जोड़ने की एक अच्छी शुरुआत इस विचारक ने की थी। विश्व भर के आदिम मिथको के प्रकृति को सर्वाधिक ताकतवर रुप में देखा गया। प्रकृति के पदार्थों ने ऊर्जा का रुप धारण कर लिया। दिन और रात्रि के मिथको में चारों तरफ समानता मिलती है, क्योंकि सूर्य और चंद्रमा के मिथक हर समाज में है। चांद—तारों के सृजन की स्त्रैण शक्तियों के रुप में समझा गया। सूर्य की महत्ता मिली। भारतीय मिथकशास्त्र में सूर्य सात घोड़ों के रथ पर सवारी करते है। ग्रीक मिथकशास्त्र में सूर्य देवता का हेलियस है, जो चार घोडों के रथ पर सवार रहते है। मिस्त्र में एपिस नाम का साँड उत्पादकता का प्रतीक है। इसके सिरे पर सूर्य का तथा पार्श्व में चंद्र का चक्र है । सिन्धु घाटी की सभ्यता में बैल के चित्र विभिन्न वस्तुओं पर अंकित मिलते है। कुछ समाजों के कृषि—व्यवस्था में प्रवेश करने की प्रकिया में उर्वरता के मिथक जीवन में प्रधान हो उठे थे। सूर्य, चंद्र, तारे, सांड, वृक्ष विद्युत, धरती ,जल, अग्नि आदि के प्राकृतिक मिथक लोक जीवन में ऐसे नये अर्थो को लेकर उभरने लगे थे, जिनके प्रति मानव जाति का अटूट विश्वास था। उसकी समझ के वैज्ञानिक

अभावों को मिथकीय अर्थो ने पूरा कर दिया था। मिथक ही आदिम जीवन के विकास के ठोस उपाय थे। बौद्धिक तर्क प्रणाली नही थी, इसलिये उन समाजों में जीवन की आधारभूत आवश्यकता के रुप में सामूहिक तौर पर कुछ ऐसे विश्वास निर्मित हो रहे थे, जो वस्तुतः प्रकृति से संस्कृति की ओर बढ़ने के अद्यविंबात्मक रुप थे। इनका रिश्ता संसार, प्रकृति और मनुष्य की नियति से था। आदिम समाज के मिथको का अर्थ उस मनोसामाजिक कल्पना की व्याख्या से खुलता है, जो कुछ ऐसे सवालों के इर्द–गिर्द अपने शैक्षणिक बिम्ब तैयार कर रही थी कि सृष्टि कैसे सम्मुख आयी, समाज कैसे चलता है, इसका क्रम क्या है, इस क्रम पर किन शक्तियों का नियंत्रण है, आदि–आदि।

सृजनकर्ता के आदिम मिथक हर समाज में है। इसी कोटि में नवीन शुरुआतों और जागृतिक परिवर्तन के मिथक मिलते है। मैक्सिकों में ओमेटेखुटिल पर सृष्टि की जिम्मेदारी है। आदम और ईव की कथा बतलाती है कि देवता ने सृष्टि को दो भागों में विभक्त कर किस प्रकार आदम और ईव को स्वर्ग से धरती पर भेज दिया। आदिम मिथकों का पहला महत्वपूर्ण कार्य विरुद्ध के बीच अलगाव का है। स्वर्ग से धरती के , आकाश से पृथ्वी के देवता से मनुष्य के, जल से भूमि के भटकाव से किसी लक्ष्ययुक्त यात्रा के और भाववादी भ्रांति से वास्तव के अलगाव की प्रकिया शुरु हुई। आदिम वैज्ञानिकों ने सबसे पहले आग को पहचाना और अपने जीवन को सामाजिक रुप देना

प्रारम्भ किया । समाज में विभिन्न संस्थाऐं बननी शुरु हुई । सभ्यता के मार्ग में सामाजिक, राजनैतिक द्वंद्व तीव्र हुये हम लोग दुनिया भर की सभ्यता के इतिहास में इन्द्र–वृत्रासुर, राम–रावण, कौरव–पांडव के बीच हुए संग्राम की तरह और भी अनेक संग्रामों के मिथक पाते है। अलगांव के बाद रचनाकार के बाद रचनाकार का काम है निगरानी और विकास । ब्रह्मा का सिर सभी दिशाओं में है। वह सृष्टि चलाते है। 'बेबीलोन' के मिथक में 'मरडुक' ने तियामत नामक दैत्य को मारकर सृष्टि को अलग संरचना दी थी। इस मिथक में देवासुर संग्राम की तरह ही एक लम्बी लडाई का चित्र है। क्या अलग–अलग देशों में अलग–अलग देवताओं ने दुनिया बनायी ? वस्तुतः सृजन के इन मिथकों के माध्यम से काल की एक ऐसी अवस्था प्रकट होती है, जब मनुष्य को प्रजापति की आवश्यकता पड़ने लगी थी। राज्य की आदिम अवस्थाओं में सृष्टि–रचना की अवधारणाऐं व्यक्त होती थी। यह विश्वास बनता था कि समाज में अन्याय और पाप होते है। इसलिये इसे एक चलाने वाला चाहिए यह भटकने वाले ढीले–ढाले समाज से राज्य की विशेषताओं वाले समाज की ओर बढना था । पहले भाषा के मिथकीय तात्पर्य एक सीमा थी, इसके रुपक के कारण प्रस्तुत अर्थ का भी समान महत्व था। मनुष्य के सोचने की क्षमता विकसित हुई और अवधारणाओं के प्रत्यक्ष आधार अपर्याप्त लगने लगे, तो ऐसे मिथकीय प्रतीको की तरफ भी समाज बढ़ने लगा,

जिसमें प्रस्तुत अर्थ गौण हो गया। सामाजिक विकास के कारण भाषा की यह पद्धति उस जाति की आगामी जरुरतों को पूरा करने वाली थी। इन मिथकों के साथ जीवन सापेक्ष एक नयी कल्पना थी।

समाज मानव–जीवन और सृष्टि के बड़े आयामों की तलाश सृजनधर्मी मिथको में हो सकती है। माना गया कि समाज से सच राज्य है। राज्य से भी वृहत्तर सच यह पूरी सृष्टि है। समाज का कोई चालक है, तो सृष्टि को भी चलाने वाली कोई सत्ता जरुर है। मनुष्य ने आकाश, हवा, धरती, बादल, इत्यादि और स्वयं को नये रुपों में देखा । उसने अहसास किया कि चूंकि उसके स्वयं के जीवन में पाप और द्वंद्व है, अतः उसका जीवन एक ऐसे लोक के जीवन से अलग है, जहां कोई नही मारता, कोई पाप नहीं करता, कोई द्वंद्व नहीं है। बार–बार उसके ऊपर सैकडों विपदायें आती रहीं । उसे कभी उसके प्रजापति ने बचाया , उसे सभी ने मिलजुलकर भौतिक विपत्ति से लड़कर अपनी रक्षा की । सामूहिक शक्ति में बहुत वजन है, इसे ही दैवीय–शाक्ति के रुप में समझा गया है । मनुष्यों को लगा कि कोई ताकत है जो उन्हें बार–बार मुक्त करने के लिये आ जाती है। हम मिथक के इतिहास को मनुष्य के जीवन संघर्षो के इतिहास से जोड़कर देखते है तो उसका एक नया अर्थ उद्‌भासित होता है। सृजन के जितने मिथक हैं, वे मनुष्य के विकास की पहचान कराते है। वे मनुष्य के मानवेतर चीजों की दुनिया से अलगाव के मिथक हैं। वे

मनुष्य समाज और राज्य की मौलिक पहचान के मिथक है। वे मनुष्य की उसकी सीमाओं का अहसास कराने वाले तथा विकास की सम्भावनाऐं खोलने वाले मिथक है। कुल मिलाकर सारे मिथक अंततः मनुष्य जीवन के मिथक है। मनुष्य ही उसका निर्माता है।[10]

आधुनिकतावाद ने मिथक के अर्थ को अपनी तरफ मोड़ा उसे आत्मकेन्द्रित किया। दीर्घ अनुभवों पर आधारित मध्यकालीन जीवन विधि के विघटन के बाद मिथक के अर्थ में संक्रमण होने लगा। बहुत सारे लोगों ने परम्परागत जीवन—पद्धति में आस्था खो दी। चूंकि मनुष्य केवल अमूर्त अवधारणाओं में नहीं जी सकता, इसलिये उसकी खिन्नता, उद्विग्नता एवं आवेगमयी सृजनशीलता अधकचरे और विच्छिन्न मिथकों में व्यक्त हुई। परम्परा और वैयक्तिकता की टकराहट के नये मिथकीय संकेतों की रचना की। हिप्पियों—बीटनिकों के मिथक एक तरफ विच्छिन्न है, दूसरी तरफ गहन आदिम। पश्चिम में यंत्र सभ्यता से ऊबकर राम—कृष्ण अथवा योगा की तरफ बढ़ने की प्रवृत्ति है या उत्तर—औद्योगिक समाज की कल्पना भी पश्चिम के नये मिथकों द्वारा व्यक्त हो रही है। यूरोपीय जनता का एक हिस्सा पश्चिमी मिथक से पूर्वी मिथक में छलांग लगा रहा है। किन्तु उसके मिथक मादक क्रियाअनुष्ठान अधिक है, वास्तविक मिथक कम। उनके जार्ज संगीत की तुलना में भारतीय गांवों में वृक्ष के नीचे झाल मंजीरा लेकर आत्म—विभोर होकर गाने—बजाने वाले कृषक मजदूरों का संगीत

10. इतिहास और कविता—विमलचन्द्र—पृ0—19

अधिक अर्थपूर्ण है। शिव को विश्व संस्कृति का आदि बीटनिक कहना पड़ेगा लेकिन वह सर्वहारा थे और कुछ मूल्यों से जुड़े हुए थे। कैक्टस और, यंत्र मानव भी आधुनिक जीवन के मिथक है। वस्तुतः संस्कृति की विकृतियां मिथक में भी विरुपण ला देती है। आधुनिकतावादी जीवन में निराशा और पराजय की मानसिकता का कारण पूंजीवादी मिथको का व्यापक प्रभाव है।

मिथक में कहीं अर्थ है तो उसके तत्वों में नहीं, बल्कि उस संरचनात्मक पद्धति में है, जिसके द्वारा पृथक–पृथक तत्व मिथक का रुपाकार ग्रहण करते है। मिथक की संरचना ही मिथक का अर्थ बतलाती है और विरोधाभासों को खोलती है। यह विचार क्लाड लेवी स्ट्टास का है, जिसने मिथक का संरचनावादी आधार पर विश्लेषण प्रस्तुत किया। संरचनावादी आलोचनाशास्त्र प्रायोजित आधुनिकतावाद की नवीनतम उपलब्धि है। मिथक के विभिन्न पाठांतरों और व्याख्याओं से स्पष्ट समरुपों का चयन करने के बाद लेवी स्टटास सबसे पहले विभिन्न कथनों का गुच्छा तैयार करने का निर्देश देता है। इन गुच्छों का संरचनात्मक विश्लेषण करने पर "विरुद्धों के युग्म" मिलते हैं। इस तरह का युग्म जगतोत्पत्ति, भौगोलिक, सामाजिक अथवा आर्थिक किसी भी वस्तु से संबन्धित रह सकता है। इसे 'बाइनरी अपोजिशन' कहा गया है, जो वाम दक्षिण ,ऊंच–नीच, पुरुष–स्त्री,जंगल–गांव, कच्चा–पक्का, पाशविक तरीकों –मानवीय तरीकों के बीच हो सकती

है। सामाजिक जीवन में प्रकृति और संस्कृति के बीच बढ़ते अंत–विरोधों के युग्मों को भी मिथक व्यक्त करते है। इन युग्मों से अव–धारणात्मक संयोजनाओं को छांटकर इनकी संरचना से मिथक का अर्थ खोला जा सकता है।'[11] लेवी स्ट्रास के अनुसार कोई भी अनुभव एक संरचनात्मक रुप में ही संभव है। भाषा और मिथक दोनों ही ऐसी चीजें है, जिनमें अलग–अलग इकाईयों का अपने आप में कोई अर्थ नहीं होता,उनमें अर्थ तब होता है जब किसी एक संदर्भ की सारी इकाईयां खास तरीके से आपस में जुड़ती है। संगीत में भी पूरे का अर्थ होता है, किसी विच्छिन्न ध्वनि का कोई अर्थ नही होता । लेवी स्ट्रास की विश्लेषण पद्धति का आधार आदिम समाज है, किन्तु उसने यांत्रिक ढंग से सभी मिथकों को एक ही ढँग से विश्लेषित करने की बात कही। वह मानता है कि एक ही मिथक के बहुत से अर्थ हो सकते हैं और यह कहना कठिन हो सकता है कि कौन–सा अर्थ सही है। किन्तु मिथकीय घटनाओं के बंडल को कुछ शब्दों या वाक्यों में निर्धारित करके उनका संरचनावादी विश्लेषण अंततः मस्तिष्क की पूंजी के रुप में मिथक के एकपक्षीय मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन की खिड़की खोलता है।

नृतत्वशास्त्री लेवी स्ट्रास फ्रायड के सामान्य सिद्धांतों को मानता है। उसके लिए मिथक मस्तिष्क का वह क्रिया व्यापार है, जिसका अपना एक सामूहिक प्रतिनिधिक रुप होता है। मस्तिष्क का

---

11. इतिहास और कविता–विमलचन्द्र–पृ0–23

अपना एक मैकेनिज्म है, जिसके हाथ में बाहर की कोई भी चीज पड़े, उसे एक रुप मिल जाता है। यह एक सही सोच नहीं है। मिथक का अर्थ तभी स्पष्ट हो सकता है, जब विकासशील सामाजिकार्थिक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में उस पर सोचा जाये और देखा जाये कि किसी खास मिथकका उस पूरी संस्कृति में क्या स्थान है। कभी–कभी किसी एक मिथक का अर्थ खोलने में उसी समाज या पड़ोसी समाजों के मिथकों से मदद मिलती है। मिथकीय सोच की अपनी आंतरिक पद्धति होती है, अर्थात अपना द्वंद्ववाद होता है, इस अवधारणा के कारण लेवी स्ट्टास हीगल के नजदीक चला जाता है। वह मिथक में वाद, प्रतिवाद और संवाद के हीगेलवादी अस्तित्व को स्वीकार करता है।

मिथक का कार्य अपने नही, समाज के अंर्तविरोधियों को व्यक्त करना और उन्हें निदान की प्रक्रिया की ओर अग्रसर करना है। इसलिए मिथक के द्धंद्ववाद का स्वरुप भाववादी नही, वस्तुवादी है। जिस द्धंद्ववाद की वजह् से सांस्कृतिक मिथकों का भी स्वरुप बना और विकसित हुआ । मिथक इसलिए सामूहिक विश्वास के हिस्से है क्योंकि वे इतिहास की द्धंद्वात्मक शक्तियों द्वारा अस्तित्व में आये है। वे झूठ नही है, जातियों द्वारा अनुभूत सामाजिक सच है। इसलिये मिथक का सामाजिक यथार्थ से खुला और गहरा संबंध है। सामाजिक जीवन की रचना करने वाली परम्पराओं ,आकांक्षाओं और विश्वासों के ही वे संरचनात्मक रुप हैं। खुले तौर पर जो बातें नहीं कही जा सकती,

आदमी उन्हें मिथक में कहता है। इसी कारण उसने अतीत में अपनी सोच को मिथको में व्यक्त किया और आज भी कर रहा है। भूख लगने पर कोई कहता है कि पेट में चूहे दौड़ने की बात तार्किक नही है फिर भी उपरोक्त वाक्य–संरचना में एक कथ्य हैं।" बडी तेज भूख लगी है" इस तरह हर सांस्कृतिक मिथक का एक अर्थ होता है। अर्थ कैसे अच्छी तरह व्यक्त हो सकता है, किन्तु वह खुद अर्थ नही दे सकता । अर्थ वस्तु में होता है, यह रुप की समस्या है, किन्तु रुप की समस्या का वस्तु से पृथक अस्तित्व नही है। इसलिए किसी मिथक का अर्थ कैसे एक संरचनात्मक रुप हासिल करता है, यह सवाल सीधे इससे जुड़ा हुआ है कि सामाजिक अंतर्वस्तु या आशय का विकास किस प्रकार होता है। सामाजिक अंतर्विरोधियो के हल के लिये मिथक जो तार्किक प्रारुप बनाता है वह रुपवादी न होकर वस्तुवादी होता है बहुत से मिथक स्त्री–पुरुष संबंधों और पारिवारिक व्यवस्था की संरचना के विकास को स्पष्ट करते है। इस विकास का तर्क समाज का होता है। या मिथक कोई अपना निजी तर्क देता है ? निश्चय ही मिथक के तार्किक प्रारुप आत्यंतिक नही सामाजिक विचार–श्रेणियों की संरचना का विकास है। अतः मिथक मानव मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब नही, सामाजिक विकास का संकेतक है, जो मानव मस्तिष्क में भी कार्यशील रहता है।

मनुष्य अपने मिथको के बारे में क्या और कैसे सोचता है,

अथवा विकासशील समाज इन्हें कैसे प्रभावित करता है—यह न बतलाकर लेवी स्ट्टास ने यह निरुपित किया कि स्वयं मिथक मनुष्य में बिना उसकी जानकारी के, कैसे काम करते है। मिथक को भाषा की एक खास तरह की संरचना माना भी जाये, तो इसका अपने आप में कोई गुणात्मक मूल्य नहीं होता। विरुद्धों का युग्म राम—रावण का हो, दुर्गा—महिषासुर का अथवा कौरव—पांडव का, इनके कार्यो का विशिष्ट स्वरुप हो सकता है, जो सामान्य जीवन से भिन्न भी प्रतीत हो सकता है, किन्तु जान लेना चाहिए इन युग्मों का अपना सामाजिक—राजनैतिक आधार होता है, किन्तु जान लेना चाहिये कि इन युग्मों का अपना अर्थ प्राप्त करते है। मिथक का संरचना का सामाजिक यथार्थ से निरपेक्ष कोई अर्थ नही होता। वह मानव जीवन की धारा में अन्तर्प्रवाहित होकर ही अपनी मूल—पद्धति विकसित करती है। इस धारा में टूटकर खो जाते है और कोई हिस्से जुड जाते है। अतः मिथक के बारे में दो बाते ध्यान में रखना चाहिये— (एक) मिथक अपने सामाजिक रुप में विकासशील होते है, और (दो) समाज की दोनों श्रेणियां इनका इस्तेमाल अपनी—अपनी तरह से करती है। मिथक पर धार्मिक कियाअनुष्ठान का जाल उच्च श्रेणी ही फैलाती है, इसलिये एक मिथक के कई अर्थ हो जाते है। कोई एक समूह किसी मिथक का दूसरे समूह द्वारा किया गया अर्थातंर सुनकर उत्तेजित हो जा जाता है। कभी—कभी एक ही मिथक में एक विषयवस्तु ले लेती है।

मिथक की व्याख्याओं में विषयवस्तु और मूल्यों का द्वंद्व वस्तुतः समाजिक आर्थिक द्वंद्व का परिणाम है।[12]

मिथक के संरचनात्मक स्वरुप के साथ इनका एक कार्यशील स्वरुप भी है, किन्तु उसे क्रियाअनुष्ठान या मनस्तात्विक आद्यरुप से मिथक अवरुद्ध हो जाते है। कला अथवा विकासशील सांस्कृतिक व्यवहारों में ही वे अपना सृजनशील जीवन अर्जित करते है। अतीत के ऐतिहासिक उपलब्धियों, विधि–निषेधों जीवन्त विश्वासों की समाज में अपनी भूमिका है। पर्व–त्योहार, विवाह, जन्म–मृत्यु, संस्कार एवं ढेरो सामाजिक संस्थाओं में मिथक मौजूद होते है, जिन्हें धार्मिक क्रिया–अनुष्ठान घेरकर रखते है । व्यर्थताओं से घिरकर एक अर्थ विरुपित होता रहता है, आधुनिक मनुष्य जीवन के अर्थ से अपने को विच्छिन्न करके आत्मपहचान कायम नहीं कर सकता । वह पुराने क्रिया अनुष्ठानों से मिलकर प्रौद्योगिकी के आधुनिक कर्म कांडों की ओर बढे , तब भी क्रियाअनुष्ठान उस पर किसी न किसी प्रकार कब्जा जमाये रहते है। वह अपने व्यवहारों पर प्राचीनता का दबाव महसूस करता है। किन्तु राष्ट्रीय संस्कृति का अर्थ क्रियाअनुष्ठानों में नही, वास्तविक मिथको में है। कर्मकाण्ड में नही ,मानव की संवेदना में उसका रहस्य छिपा है। समाजशास्त्र में जिसे 'सीमान्त" 'मनुष्य' कहते है, वह समकालीन समाज व्यवस्था के मुख्य केन्द्र में है। आज का सीमांत मनुष्य आधुनिकता की ओर बढ़ता है, साथ ही रुढियों और

12. इतिहास और कविता–विमलचन्द–पृ0–24

पुराने संस्कारों से बंधा रहने में अजीब आत्मसुरक्षा का एहसास करता है। वह दोनों की सीमा पर रहने वाला ऐसा मनुष्य है जो उधर से मार पड़ने पर इधर चला आता है, वह एक मिश्रित और विभाजित जिन्दगी जीता है। वस्तुतः आधुनिक मनुष्य के व्यवहार में बहुत से आदिम ओर मध्यकालीन रुप जिन्दा है, विज्ञान और विकसित प्रौद्योगिकी भी इन्हें मिटा नही पा रही, कहीं–कहीं नवीनीकरण अवश्य कर दे रही है।

जनता के व्यवहारों में अंर्तनिहित मूल्य–अवस्थाओं का विवेचन करके ईश्वर और प्रौद्योगिकी द्वारा सम्मिलित रुप से विकसित सामाजिक अंर्तविरोधों का ज्ञान होता है। आद्यरुपीय समाज से प्रौद्योगिक समाज तक की ऐतिहासिक यात्रा में मनुष्य अपने व्यवहारों को मौलिक रुप से कितना वैज्ञानिक रुप दे पाया है और वे अभी भी आद्यरुपीय है, वह विचारणीय है। इस पर सोचने की जरुरत है कि आद्यव्यवहारों में अंर्तनिहित मूल अवस्था का कोई ऐसा पक्ष भी है। जो सामाजिक परिवर्तन में सहायक हो सकता है। आधुनिक समाज के लोग भी विधि–निषेधों क्रिया अनुष्ठान और आद्यरुपों को मानते है। उन्हें अपने जीवन में नाटकीय ढंग से ठहराते है, क्योंकि वे मिथकीय काल से चले आ रहें है। मानव मस्तिष्क और व्यवहार में विद्धान के साथ मिथक की सत्ता भी स्थापित है। इससे क्या अर्थ निकलता है ? इससे यही पता चलता है कि अतीत अपने प्रतिगामी और प्रगतिशील दोनों तरह के तत्वों के साथ मानवजीवन को स्पंदित कर रहा है। प्रतिगामी

तत्वों को जीवन से दूर करने के लिए हम अपने समूचे अतीत को कपड़े की तरह उतार नही फेंक सकते। जरुरत अतीत की पुनर्रचना की है। यहीं विचारधारा का सवाल है। हर विचारधारा अतीत का अपनी संरचना में मूल्यांकन करती है और फैसला देती है। जो चला आ रहा है, उसके बाहर भी अतीत का एक बडा हिस्सा है और वह निरर्थक ही है, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। प्रगतिशील विचारधारा का अतीत से विरोध नही है, न वह राष्ट्रीय संस्कृति के जीवंत मिथको की दुश्मन है, लेकिन वह प्रतिगामी मिथकों और कर्मकाण्ड की दुश्मन जरुर है। आधुनिक विज्ञान भी समूचे अतीत अथवा इसके मिथकों का कदापि विरोधी होता क्योंकि ऐसा होना राष्ट्रीय संस्कृति का विरोधी होना है।

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में मिथक को नये—नये ढ़ंग से विश्लेषित किया गया है। एक आधुनिक आलोचक 'रोलां वार्थ' खेलकूद ,फिल्म, राजपत्र, नारे, विज्ञापन, चुनाव, पत्रकारिता इत्यादि में मिथकीय तत्वों की उपस्थिति बतलाकर संकेत विज्ञान के अन्तर्गत मिथक के नये कार्यशील रुप की विवेचना करता है। उसकी दृष्टि में मिथको की फैलती आधुनिक दुनिया की मूल वजह बुर्जुआ वर्ग का छझरुप है। यह वर्ग अपने प्रतिगामी चरित्र को छिपाने कि लिये पूंजीवाद के मिथकीय रुपों को इस तरह प्रस्तुत करता है, कि उसका वास्तविक प्रगतिविरोधी चेहरा न दिखे । यह मिथक का एक तरह का इस्तेमाल

है, जो राष्ट्रीय जीवन में हो रहा है। इसके दूसरे इस्तेमाल की तरफ ,जो शोषित वर्ग अपनी चेतना को धरातल पर करता है। वह मिथक को अपने जीवन का कठोर सच एक गहरे आतंक का छाया में भी व्यक्त करता है। यह पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि मिथक का इस्तेमाल समाज के दोनों वर्ग करते है। निश्चय ही कियाअनुष्ठान रुप का इस्तेमाल उच्च वर्ग द्वारा अपने हित में होता है। जिसके संस्कार अन्य वर्गो के लोग भी होते है।

पश्चिमी नव्य समीक्षा में भी मिथक का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना। इसे कथावस्तु अथवा काव्यात्मक आद्यबिंव के रुप में विश्लेषित किया गया अथवा साहित्यिक रुपों में मिथकीय गुण ढूढा गया। रोमांटिक युग ने मिथको को उद्धार कर दिया था पर आधुनिकतावाद ने उन्हें भिन्न स्तर पर अपनाया। इसने मिथकों के साथ आनैतिहासिक रिश्ता कायम किया और उनके अर्थ में धूसरता ला दी। नार्थपफाड ने मिथक को साहित्यिक सौन्दर्यात्मक संरचना से जोड़ा। स्वाभावतः वह मिथक पर रुपवादी दृष्टिकोण से विचार करने लगा। कुछ ने उसे कच्चे माल के स्तर पर भी चुना और बतलाया की कविता के स्तर पर मिथक की उपयोगिता इससे ज्यादा नही है। सामान्यतः पश्चिमी साहित्य जग में मिथक का दो आधारों पर अधिक विश्लेषण नहीं हुआ। मनोविश्लेषणात्मक और सौन्दर्य बोधात्मक। यथार्थ के वाद के आधार पर मिथक की संरचना विश्लेषण नही हुआ

पश्चिमी आलोचको ने मिथक पर कितना काम किया, यह उपरोक्त बहसों की समीक्षा से ज्ञात हो जाता है। थोड़े से भारतीय विद्वानों ने भी इस पर काम किया है। किन्तु इसके विषय क्षेत्र का सही रेखांकन नही हो पाने के कारण इसकी अंतर्वस्तु की वास्तविक पहचान नही हो पायी। धर्म, आद्यरुप, संरचनावादी रुप , भाषाशास्त्री स्वरुप, आदिम समाजों के मनोविज्ञान के भीतर ही मिथक को अलग–अलग परिसीमित कर दिया गया। मिथक की समग्र कार्यशील संरचना सामाजिक यथार्थ, सामाजिक मनस्तत्व ,जन–व्यवहार भाषा, सौन्दर्यबोधात्मक अनुभव तथा मानवीय विश्वासों से अंर्तसंबंधित है। उसके कलात्मक स्वरुप का अध्ययन अब यथार्थबाद के आलोक में करने की जरुरत है। मिथक पदार्थ के द्धंद्वात्मक अंर्तसंबंध के विश्लेषण का मार्फत मिथक के वैज्ञानिक अध्ययन एक नया क्षितिज अन्वेषित हो गया है, जिसमें मिथक का सीधा रिश्ता सामाजिक जीवन से माना गया है। मनुष्य और उसकी कला–संस्कृति के विकास के अध्ययन में यह प्रगतिशील समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण काफी चुनौती भरा है।

साहित्यिक मिथक सामाजिक यथार्थ का कलात्मक सृजन है। 'रिचर्ड चेज' ने कहा है कि सृजनात्मक साहित्य में रुचि स्वभावतः मिथक में भी रुचि पैदा कर देती है, क्योंकि यह मानवीय कल्पना का सौन्दर्यात्मक सृजन है। यह रुपकथा और काव्य बिंब दोनों है। सौन्दर्यात्मक कल्पना एक सामाजिक अवधारणा भी है। मिथक इसी की अभिव्यक्ति है।[13]

13. **History of Miths - Richard Chaise - Page- 44**(25)

प्राचीन मिथककार व्यक्तिगत रुप से कवि भी होते थे। दूसरे शब्दों में उनमें सृजनशीलता होती थी। अपनी सृजनात्मक कल्पना के द्वारा वे लम्बी–जटिल कथाओं की रचना करते थे, जिनमें प्रकृति और मनुष्य जीवन के नाटकीय वृतांत होते थे। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में इन कथाओं का लगातार कायाकल्प होता गया। मिथकीय साहित्य प्रारम्भ में सामान्यतः अलिखित था, वह जनता के साहित्य का सबसे बडा हिस्सा था। इसलिए इसका व्यापक परिवर्तन हुआ। आज हम उसका जो रुप पाते है, उसके भीतर मूल रुप कौन–सा है, बता पाना कठिन जरुर है, पर असंभव नहीं है। किसी मिथक के मूल रुप का पता लगाने के साथ यह जरुरी है कि मिथक को आलोचना का अंग बनाया जाये। उस पर साहित्य के समाज–शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाये।

मिथक साहित्यिक आलोचना का एक प्रमुख आधार है। यह कहना गलत है कि आधुनिक यथार्थवादी साहित्य में मिथको का प्रयोग कम हो गया है अथवा जनवादी कथ्य के लिये वे वस्तुतः फांसी के तख्त है। बल्कि अपने जातीय ढ़ांचे के कारण ये जनवादी स्तर पर अधिकाधिक प्रांसगिक बनते जा रहें है। आधुनिक यथार्थवादी साहित्य के मिथकों की संरचना में अतिनाटकीयता, घटनाओं की श्रृंखला एवं भाववादी संरुपण नही है। लम्बी जटिल कथाएं भी नही है लोकविश्वासों का आधुनिक स्तर राजनैतिक हो गया है, अतः मिथक धार्मिक चेतना

के स्थान पर अब राजनैतिक चेतना के वाहक है। ये रुढ़ियुक्त है और अधिकाधिक संकेतात्मक होते जा रहे है। अवधारणात्मक स्तर तक पहुंचकर वे प्रतीक भी हो जाते है। मिथकों को मनोबिंबात्मक बनने के स्थान पर उसे उभार सके तथा आवास पीड़ा और उसकी राजनैतिक लड़ाई अपने जातीय सांस्कृतिक स्वरुप में व्यक्त हो सके। जीवन की आलोचना करने और आधुनिक जनता के समाज की जनवादी अंतर्वस्तु से पशिचित कराने में ये जितने साधक है, उतनी ही उनकी सार्थकता है। आधुनिकता वादियों ने अंतर्वस्तु का महत्व गिरा दिया था। यथार्थवादी लेखन में इसका महत्व फिर स्थापित हुआ है। इसके साथ समकालीन भाषिक संरचना में मिथकीय तत्वों का आधुनिक प्रयोग भी बढ रहा है। इनकी जरुरत खत्म होने के स्थान पर बदले रुपों में उजागर हुई है। परिणाम स्वरुप संघर्षशील आधुनिक जनता के मिथकों के सृजन और विश्लेषण का वस्तुवादी धरातल फूट पडा है।[14]

---

14. मिथक और आधुनिक कविता—शंभुनाथ—पृ0—24

(ख) मिथक के पारंपरिक सन्दर्भ –

मिथको में हमारी परम्परा के अनेक अर्थ और संभावनाएं है। सैकडों –हजारों वर्षों से भावप्रवण सौन्दयप्रेमी कलाकार समाज के यथार्थो और लक्ष्यों को मिथक का रुप देते आये है, किसी जमाने में उनका औजार जादू और धर्म था, आज विज्ञान है। निःसंदेह शोषक वर्ग ने भी अपने मिथको का प्रचार उसी स्तर पर किया तथा रुढ़ रीति या चमत्कार को मिथक के रुप में उपस्थित कर भ्रम फैलाया । लेकिन काव्य तथा कलाओं में मिथको की पुर्नरचना किसी भी युग में गहरे प्रतिवाद से कम न थी । यह प्रचलित रुढिवाद और मतांधता का प्रतिवाद थी। जब वाल्मीकी ने "रामायण" लिखी, उनका राम का मिथक एक गहरा प्रतिवाद था। जब भिन्न परिस्थिति में तुलसीदास ने "रामचरितमानस" लिखा तब भी। निराला की "राम की शक्तिपूजा" शोषक वर्ग के किस प्रचार का हिस्सा है ? मुक्तिबोध ने अपनी कविता में मिथको का प्रयोग किस वर्ग के हक में किया ? अभिव्यक्ति के संकट एवं दमन की घड़ियों में मिथक से बढ़कर और किसने अपनी उपयुक्तता प्रमाणित की ??? यह ठीक है कि हम वाल्मीकि के आध्यात्मिक राज्य या तुलसी के "रामराज्य" में विश्वास नही कर सकते, लेकिन उस स्वप्न में विश्वास कर सकते है, जो उन्होने अपने काल की मनुष्यता की राह ढूढ़ते हुए मिथक की ऑखों से देखा था।[15]

आज अतीत के अनेक स्वप्न एवं आदर्श का सिर्फ ऐतिहासिक

---

15. मिथक और आधुनिक कविता–शंभुनाथ पृ0–28

महत्व है, उनकी वर्तमान अर्थवत्ता नही है। लेकिन आधुनिकतावादी आलोचक उनका ऐतिहासिक महत्व भी झुठलाते है। इसलिये वे नये युग के प्रगीतशील और प्रतिगामी मिथकों को भी वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक–सामाजिक परिप्रेक्ष्य में न देखकर सिर्फ विच्छिन्न भाषिक या मानसिक निर्माण के रुप में देखते है ; जबकि मिथक को समग्रता में, उसके द्वंद्वात्मक एवं सौन्दर्यात्मक विकास में पहचानने की जरुरत है।

मिथक अपने दिक् और काल से जुड़े सन्दर्भो के कलात्मक पुनः सृजन है। ये मिथक शास्त्रीय कथाओं से भिन्न है। पुराण कथा या पुरावृत्त अतीत के मिथक है, किन्तु मिथक को केवल उन्हीं में परिसीमित नही किया जा सकता। यह सिर्फ अतीत की विधि नही है। इसका आधुनिक विकास हुआ है। समाज बदला है तो इसके साथ लोगों का मिथक के प्रति रुख और व्यवहार भी बदला है। मिथक का कोई भी अध्ययन उसके प्रति बदलते रुख और व्यवहार की जानकारी के बिना अधूरा है, क्योकि मिथक का स्वरुप एक–सा कभी नही रहा–कथात्मक एवं तात्विक दोनों स्तरों पर। इसमें रुपांतर आये है। लो–विश्वास भी कब स्थिर रहे, इनमें भी रुपांतर आये है। खासकर भारतीय मिथको का स्वभाव बहुत लचीला रहा है, इनकी व्याख्या के किसी भी ढांचे को कभी परिपूर्ण नही समझा गया। इसी वजह से भारतीय मिथको में स्थान और काल के हिसाब से अनेक रुपभेद

मिलते है, जिन्हें विकास में ही सही पहचाना जा सकता है। भारतीय मिथकों का रुपांतरण और विकास उसी ऐतिहासिक पद्धति से हुआ है, जिस ऐंतिहासिक पद्धति से भारतीय समाज का हुआ है। इस क्रम में मिथक के सौन्दर्यात्मक रुपों को समाज के आर्थिक या राजनैतिक रुपों से कभी कम मान्यता नहीं मिली। क्योंकि प्राचीन तथा मध्यकालीन मिथकीय अभिव्यक्तियों में यथार्थवाद का एक न एक स्तर था। जिस तरह आधुनिक और समकालीन यथार्थवाद के कई अनुभवों के कलात्मक रुप मिथकीय है।

हांलाकि मिथक प्राचीन छाया से निकलकर अब आधुनिकतावाद और यथार्थवाद के अधीनस्थ है, फिर भी नये भौतिक वातावरण के कलात्मक अमूर्तन, संस्थाओं के गठन तथा सामाजिक–साहित्यिक व्यवहार पर इनका असर पहले से ज्यादा है। कविता में इनके महत्व का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि मिथक की अवधारणाओं से ठीक परिचित हुए बिना भी हिन्दी के आधुनिक कवियों की श्रेष्ठतम उपलब्धियां मिथकीय कथाओं पर आधारित है। बाकी में भी प्रतीक या संकेत के स्तर पर मिथक की भूमिका निर्णायक है। इसे देखकर लगता है कि बुद्धिवादी समाज के विकास के बावजूद कविता की आधुनिक दुनिया में मिथक का राज्य उठा नही है, केवल रुपांतरित हुआ। आखिरकार इतने व्यापक स्तर पर मिथक का प्रयोग क्यों हुआ ? यथार्थ को अधिक गहनता से जानने और

व्यक्त करने के लिये कभी—कभी उससे एक खास दूरी आपेक्षित हो जाती है। मिथक इसका सकरात्मक अवसर देता है। यथार्थ और मिथक का रिश्ता तब एक—दूसरे के विरोधी का नही रह जाता। मिथक की नया स्तर देने में द्वंद्वात्मक रुप से सन्नद्ध हो जाते है, जिसकी परिणति कला, साहित्य, और संस्कृति और विकास में होती है।

आधुनिक कविता में मिथक और यथार्थवाद के बीच जो द्वंद्वात्मक अ तक्रिया विकसित हुई, उसे पहचानने का अर्थ है—उनकी नयी समस्याओं पर बहस करना, मसलन संयुक्त परिवार का विघटन, मूल्यहीनता ,संशय, व्यक्ति का विघटन अलगांव बेचैनी, श्रम का शोषण, यांत्रिकता, मर्द —औरत के बीच तनाव, स्वतंत्रता—विषमता, व्यवस्था से विद्रोह ,विडंबना ,द्वैध, मिथ्याकरण, अनावरण प्रतिबद्धता, जनतांत्रिक मूल्य का संरक्षण और विकास आदि। बीसवीं शताब्दी की कविता पर जब भी बहस होगी, उपर्युक्त समस्याऐं उठेगी। हमें देखना होगा कि कवियों ने इन समस्याओं को किस प्रकार उभारा एवं एक अर्थपूर्ण नतीजे तक पहुंचाया । मिथको ने उन्हें इस काम में कैसी रुकावट पैदा की।

मिथक के व्यापक प्रयोग के बावजूद, विस्मय की बात है कि हिन्दी में इस पर चर्चा नहीं के बराबर हुई। आधुनिक कविता ही नही ,उपन्यास में भी चरित्र संवेदना और कर्म के स्तर पर नये मिथक रचे गये: उपन्यास ने नये मिथक को नया स्तर प्रदान किया और

यथार्थवाद से इसकी अंर्तक्रिया का नया क्षेत्र खोला । नाटक और कई विधा में यही हुआ है। फिर भी रुपक प्रतीक और बिम्ब पर तो बहुत विचार हुआ, मिथक पर नही। कुछेक अनुवाद धर्मी काम जरुर हुए । इनमें मिथक और आधुनिक कविता में मिथक के स्थान के मूल्यांकन का जो प्रयास हुआ, वह बहुत हल्का और बिखरा है। इनमें मिथक की समस्या को सही परिप्रेक्ष्य की चेष्टा नही है । इसलिए मुझे जरुरी लगा कि मिथक और आधुनिक कविता में इसके स्थान एवं स्वरुप का बारीकी से अनुसंधान किया जाये तथा इस प्रक्रिया में कविताओं के वास्तविक मर्म का उद्घाटन भी हो, क्योंकि यह मिथक का ही अंर्तनिर्हित मामला है। यही वजह है कि इस पुस्तक में मिथक के विभिन्न पहलुओं पर तो विचार है ही, आधुनिक कविता की व्याख्या में पूर्ववर्ती जड़ धारणाओं का खंडन भी है।

इसके बावजूद मै आधुनिक कविता की इस आलोचना को मिथकीय आलोचना करना पसंद नहीं करुगी। मैने ऐसा कोई प्रयास जानबूझकर नही किया है। मिथकीय आलोचना समकालीन आलोचना की नही है ,बल्कि नयी समीक्षा कर एक प्रवृत्ति है, जो पुरानी पड़ चुकी है आलोचना में मिथक की व्याख्या का उपयोग संभव है, लेकिन आलोचना ही उलटकर मिथकीय हो जाये, सोचिए कविता पर तब क्या बीतेगी और खुद मिथक भी कहा तक उघड़ेगा। मिथक की आलोचना को मिथकीय बनाना मिथक की आधुनिक व्याख्या की यथार्थवादी

उपलब्धियों को खोना और किसी न किसी रुप में पुराने मिथकशास्त्रीय चक्र में फंस जाना है। मिथक को ऐतिहासिक विकास में देखते हुए कला और साहित्य का एक खास सामाजिक सौन्दर्य रुप मानना सही दृष्टि–कोण है। लेकिन इसके आधार पर कृति को एक बन्द "सिस्टम" में समझना–मृत्यु पुनर्जन्म तथा एक खास चक्र के अनुसरण की पद्धति में देखना वस्तुतः कृति की बन्द संदर्भ में आंतरिक आलोचना है।

मिथकीय आलोचना की कोशिश विभिन्न कृतियों में समान चीज ढूंढने की है, जबकि आज हम विभिन्न कृतियों को भिन्न–भिन्न बहुत –सी चीजों और समस्याओं के बारे में जानना चाहते है। इतना ही नही , समय बदलने पर किसी खास कृति के मिथक की नयी आलोचना में पुनः नयी चीजों और समस्याओं को ढूढ़ते है, मिथकीय आलोचना सभी कृतियों में समान चीज और समस्या ही नही ढूढती, वैज्ञानिक पद्धति के नाम पर हमेशा के लिए एक निश्चित और अंतिम व्याख्या देती है। इसकी नजर के सामने कृति के चरित्र और दृष्टिकोण अर्थ नही रखते, सिर्फ मिथकीय कथा का चक्र ही कोई अर्थ रखता है। अतः ऐसी आलोचना के लिए कृति का महत्व एक खास मिथकीय योजना के उदाहरण से अधिक नही है। मिथकीय आलोचना (नार्थप फ्राइ ऐसे लोगों की आलोचना) को नयी रीतिवादी या रुपवादी आलोचना –पद्धतियों में गिनना चाहिए । यह महज "शब्दों के क्रम"

के अंततर्क पर निर्भर एक नियतिवादी आलोचना है, जो पश्चिमी नयी समीक्षा की एक प्रवृति है। हिन्दी आलोचना में आजकल इसके कुछ चिह्न इधर –उधर दिखायी पडते है, जिनमें वस्तुतः बचना होगा और मिथक तथा साहित्य को एक समग्र परिप्रेक्ष्य में देखना होगा।

✦ ✦ ✦ ✦ ✦

द्वितीय-अध्याय

मिथक का संश्लेषणात्मक परिशीलन

द्वितीय अध्याय

मिथक का संश्लेषणात्मक परिशीलन

(क) मिथक का धर्म निरपेक्षीकरण —

कला और धर्म में कभी एकरुपता थी, इसलिए मिथक भी धार्मिक भावना से जुडे थे। धर्मनिरपेक्षीकरण की आधुनिक प्रक्रिया में कला और मिथक धार्मिक संसार से बाहर निकल आये। वैज्ञानिक राजनैतिक चेतना के धरातल पर संस्कृति का एक भिन्न पहलू सामने और मिथक रुढिवादी आचार प्रणाली से मुक्त हो गया। धर्म की महान परिभाषाऐं नये जीवन के लिए उपयोगी नहीं रह गयी है, अतः यह स्वाभाविक था कि मिथक जाति जीवन में अपने नये आधार की तलाश करता अर्थात जातीय अतीत की पुनरर्चना करता। मिथक की विकासशीलता की वजह से यह अतीत स्थिर नही रहा। नये आकार और कम में ढ़लता गया। जगत में कुछ भी शाश्वत नही रह था, लेकिन कला और जीवन मे तेजी से हो रही आधुनिक उथल –पुथल के भीतर चारों तरफ अतीत की चीजें नया वेश धारण कर रही थी, यहां तक की धर्म ने भी बुद्धिवाद की शरण में जाने की प्रक्रिया शुरु कर दी थी।[16] उन्नीसवीं सदी का राष्ट्रीय नवजागरण इसी प्रक्रिया की देन था। एक जमाने में तुर्की के मुस्तफा कमाल और हाल में चीन के

---

16. इतिहास और कविता–विमलचन्द–पृ0–35

माओत्से तृंग ने इसी प्रक्रिया में धर्म की रुढिग्रस्त परिभाषाओं की जड़ खोद डाली थी। अतः अतीत की एक चीज धर्म का आधुनिक जीवन के विज्ञान में क्या स्थान हो सकता है, इसे लेकर काफी बहस चली। इसी बहस में ईश्वर की जगह मनुष्य ने और धर्म की जगह राजनीति ने ले ली। फिर भी मिथकों का स्थान बना रहा , क्योकि धर्म ने एक नये परिवेश में सिर्फ अपना स्वरुप बदला था और हमारा अतीत नष्ट नहीं हुआ था।

भारतीय दर्शन में धर्म जीने का खास सामूहिक ढग ही नही, इस ढ़ग का सतत परिष्कार, गहन, आत्मान्वेषण और वस्तुगत जिज्ञासा भी है। यह जनता को धारण करता है– " धारणाद्धर्ममिव्याहुध र्मो धारयति प्रजा" (महाभारत कर्ण 069158) गीता में चित्त परिष्कार के लिए तत्वजिज्ञासा और सत्यान्वेषण ही धर्म है–'जीवस्य तत्वजिज्ञासा नाथोपश्चेह कर्मभिः' (गीता, 112110)। धर्म मनुष्य को अज्ञान से निकलता है। वह कर्म सापेक्ष होता है, नैतिकता, समता, चारूता ये सभी बाते हमारे यहां कहीं गई फिर भी वास्तविक धर्म जीवन से खो कैसे गया, यह बिलगाव का एक स्वरुप क्यों बना अथवा बीमारी का लक्षण किस प्रकार माना जाने लगा ? पश्चिम में "रिलीजन" की परिभाषा देते हुए इसे जादू तथा विज्ञान से अलग किया गया। इसे राजनीतिक चेतना से संयुक्त होने नही दिया गया, जबकि हर धर्म विश्व स्तर पर राजनैतिक व्यापार था। इस्लाम, ईसाइयत, बौद्धधर्म या

हिन्दुत्व का अभ्युदय अपने–अपने क्षेत्रों में राजनैतिक प्रभावों से मुक्त नहीं था। उसकी निर्वाण या मोक्ष की अवधारणाओं के पीछे ऐतिहासिक प्रक्रिया के स्थान पर भावात्मक बोध था। ज्ञान को भीतर की ओर मोड़ दिया जाता है, तो धार्मिक अवधारणा बनती है। इसे बाहर प्रयोगों के लिए ले जाया जाता है तब वैज्ञानिक अव–धारणा का विकास होता है। पूर्व में अध्यात्म अधिक फैला, पश्चिम में विज्ञान, क्योंकि दोनों जगहों पर ज्ञान की दो दिशाऐं थीं। धर्म की व्याख्याएं धर्मवादी होती थी फिर भी लम्बे काल तक धर्म कार्ल मार्क्स के शब्दों में, जीवन की वास्तविक व्यथा का प्रतिवादथा, हृदयहीन है दुनिया का हृदय और भावहीन जगत की आत्मा था। आगे वह धर्म को अफीम कहकर इसके वस्तुगत चरित्र की ओर संकेत कर देता है। इससे पूर्व कथन का महत्व खंडित नहीं होता, क्योंकि उसके सामने धार्मिक व्यवस्था का वह यूरोपीय चेहरा था, जो उसके युग में काफी वीभत्स हो चुका था। आर्थिक वजहों से धर्म में धर्म नही रह गया था।

राजनैतिक दर्शन और समाज विज्ञान ने मनुष्य को जीवन के अर्थो एवं इनकी एक पद्धति की रचना में केंन्द्रिय स्थान दिया। फिर तो धर्म के समग्र व्यापार में उेसी नृतत्वशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक संरचनाओं की खोज होने लगी, जो दुनिया –भर के मेहनत–कशों को आपस में जोडती है और वैश्विक मानवीय एकता के एतिहासिक आधार प्रस्तुत करती है। मिथक के धर्मनिरपेक्ष आयाम ने ऐसी

उद्देश्यपरक प्रवृत्तियां विकसित की जिनसे नयी मूल संरचना और सामाजिक सांस्कृतिक पद्धतियों की स्थापना हुई । ये अचानक उपस्थित हो गयी, चीजें नही थी, बल्कि मनुष्य जीवन की सार्थकता की ऐतिहासिक खोज के कारण उजागर हुई थी। कला साहित्य में यह खोज दो स्तरों पर चली। नव फ्रायडवादी 'एरिकफ्राम' जैसे मनोविश्लेषकों से प्रभावित होकर आधुनिक जीवन में धार्मिक आयामों का अन्वेषण पुनः शुरु हुआ और मूल्यबोध का एक रिश्ता गहन आत्मिक बोध से कायम होने गला। इससे प्रतीकवादी यथार्थ का महत्व बढा। एक दूसरे तरह का सोच भी विकसित हुआ, जिसके तहत मिथक केवल मानसिकता का व्यापार नही रह गया। वह ऐतिहासिक और विचारधारा से जुडकर समूची जीवन प्रक्रिया का वस्तुगत विश्लेषण लेकर उपस्थित होने लगा। इससे ऐतिहासिक यथार्थवाद का महत्व बढा। मानवीय अस्तित्व के पूरे ढ़ांचे को व्यक्त करने के लिए प्रतीकवाद न काफी प्रमाणित हुआ और यथार्थवाद काफी सक्षम ढ़ंग से उभरकर आया, जिसने मिथक के धर्मनिरपेक्षीकरण का सबसे अधिक प्रभावित किया।

धर्मनिरपेक्षीकरण कोई निषेधात्मक रुख पर होकर एक सकारात्मक सोच और मनुष्य को उसके राष्ट्रीय अतीत से ऐतिहासिक स्तर पर जोड़ने का कदाचित सबसे सार्थक प्रयत्न भी धर्मनिरपेक्षीकरण की अवधारणा से भ्रम होता है कि यह अतीत से निरपेक्षता है। मगर बात ऐसी नहीं है। इसका अर्थ होना चाहिए कि अतीत से, अधिक

तार्किक, प्रयोगात्मक और यथार्थवादी स्तर पर जुड़ना है। मानव धर्म की बात करने वाले भी पुरानी रीतियों और प्रतीकवाद को झुठलाते है और सेवा पर आधारित नवीन जीवन –पद्धति की बात करते है, क्योंकि उनके लिए धर्म त्योहारों और पूजापाठ से ज्यादा बड़ी चीज है। नयी क्रान्तिकारी व्यवस्था भी पहले से भिन्न अपने त्योहारों और आस्थाकेन्द्र स्थापित करते है, जिन्हें "रिचुअल्स " में बदलने देना चाहिये पर कभी–कभी ऐसा भी हो जाता है। हर 'रिचुअल्स' बिलगांव का बोध कराने लगता है, क्योंकि मानवीय प्रकृति इसमें रुध जाती है। एक दिन समाज में सारे "रिचुअल्स " (क्रिया अनुष्ठान) विलुप्त हो जायेगें, फिर भी मनुष्य में विश्वास रहेगें और हमेशा आधुनिक रुपों में व्यक्त होगें। जीवन की गतिशीलता का यही प्रमाण होगा। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ0 श्री निवास धर्माचार्यो की तरह ही मानते है कि जिस दिन जाति –पॉति उठ जायेगी, हिन्दुत्व भी खत्म हो जायेगा। यह धारणा गलत है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में जाति के उठ जाने पर भी आधारभूत विश्वासों का विलोप नही होगा, भले वे विश्वास तब राजनीति से गहरे स्तर पर जुडे होगें। अतः धमनिरपेक्षीकरण विश्वासों का विलोप नही, इनके आधुनिक और यथार्थवादी रुपातंतरण की प्रक्रिया है। मिथक मनुष्य के सामाजिक विश्वासों के ही संरचनात्मक रुप है, जिन्हे आधुनिक कला में अपनाया जाता है।[17] नृत्य को आज धर्म की कलात्मक अभिव्यक्ति नही मानकर मिथकीय संवेदनाओं की

---

17. कला की सामाजिकता –सुधा पाराशर–पृ0–8

अभिव्यक्ति माना जाता है, गोकि नृत्य मनुष्य के गहरे विश्वासों को व्यक्त करने वाली कला है। कोई आधुनिक कला क्या धार्मिक हो सकती है ? वह इसलिए नही हो सकती कि उसके माध्यम से संप्रेषण किसी "रिचुअल" का नही, संवेदना का होता है। प्रेक्षक इसी संवेदना से जुड़कर मिथकीय स्तर पर उद्वेलित होता है। उसमें एक विश्वास पुनः जी उठता है। परम्परागत भारतीय नृत्य ने अपना आधुनिकीकरण करके नृत्य को धर्मनिरपेक्ष बनाया। संस्कृत काव्यों के धार्मिक नृत्य प्रसंगों से इसकी संवेदना भिन्न कोटि की थी और व्यापक धरातल पर मिथकीय थी। मंदिरों और राजदरबारों से मिलकर नृत्यकला खुले मंचों—थियेटरों पर आ गयी, जिस तरह लाल पवित्र पोथियों से मुक्त होकर मिथकविता ने अपना जनतांत्रिक स्वरुप पकड़ लिया।

देवशास्त्र (माइथोलाजी) और मिथक में फर्क है। देवशास्त्र किसी न किसी धर्म का होता है, जबकि मिथक पूरे समाज की चीज है। देवशास्त्र रुढ़ हो जाता है, पर मिथक सामाजिक अन्र्तजगत की गतिशील आवराशि है। देवशास्त्र में धार्मिक देवी—देवताओं के कार्यो के घटनात्मक आख्यान से अधिक कुछ नही रहता जबकि मिथक धर्म कथा नही, एक कलात्मक पुनर्सृजन है। यह एक भाषा है।[18] बहुत सी देव कथाओं को लेकर माइथोलाजी अपने विश्व—कोशात्मक ढांचे में किसी जाति के बनने बिगड़ने की बाहरी हलचलों को लिपिबद्ध करती है। कथा का काम है अस्तित्व को जिन्दा रखना, व्यक्ति को

18. कला की सामाजिकता —सुधा पाराशर—पृ0—14

बाकी जगत के सामाजिक व्यापारों से जोड़कर देखना और जीवन का विवरण उपस्थित करना। आदिम चली आ रही कथा कहने–सुनने की प्रवृत्ति ही इसका प्रमाण है कि मनुष्य सामाजिक होना चाहता है, कुछ सामूहिक विश्वासो अथवा अविश्वासों की अपनाना चाहता है। इसी प्रक्रिया में वह मिथकों की रचना करता है। देवशास्त्र को हम मिथक नही कर सकते, पर उसमें मिथक गढ़ने की उन मानवीय चेष्टाओं को ढूढ़ सकते है, जिन पर एक तरह की राजतंत्रात्मक अथवा सामंती आर्थिक व्यवस्था ने धर्म का रंग चढ़ा दिया। और मनुष्य की कथा को देवता की कथा में बदल दिया। मिथक हमेशा मिथक की कथा कहता है, अस्तित्व के लिये भौतिक जगत में उनके ऐतिहासिक संघर्षो की कथा । वह जातीय संस्कृति का ऐतिहासिक संघर्षो की कथा। वह जातीय संस्कृति का ऐतिहासिक विकास निरुपित करता है। उसके माध्यम से हम मनुष्य को दिक और काल के व्यापक ऐतिहासिक आयामों में पहचानते है, इसके भावनात्मक उद्वेलनों को समझते है, साथ ही जीवन के नये अनुभवों में इतिहास की साझेदारी का ज्ञान भी करते है। इस तरह मिथक से हमें किसी स्थूल कथा की नही, सामाजिक सांस्कृतिक गति की जानकारी मिलती है—जातीय जीवन की अंर्तकथा की गति की।[19]

पुराणों में देवकथाऐं भरी हुई है। पर पुराण मिथक नही है। पुराण सामान्यतया प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दुत्व का उसकी

---

19. साहित्य से साक्षात्कार —मलयज—पृ0—89

धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक ,वैयक्तिक, राजनैतिक संस्कृति का लोकसम्मत विश्वकोष है। पुराण का अर्थ है– " जो प्राचीन काल से जीवंत हो' पुराण हमारी जाति की सामाजिक स्मृतियां है। वायुपुराण में कहा गया है–"यस्मात्पुरा ध्वनितीद पुराणं तेनहि स्म्रतम' परंपरागत परिभाषा के अनुसार पुराणों में सर्ग अर्थात विश्व की उत्पत्ति , प्रतिसर्ग अर्थात प्रलय के पश्चात पुनरुत्पत्ति वंश–भवंतर अर्थात मनु से आरम्भ कर विभिन्न कालों की चर्चा, वंशानुचरित अर्थात सूर्य एवं चंद्रवेशों के इतिहासों का संकलन हुआ है। ये पुराणों के पांच लक्षण के रुप में बतलाये गये है। स्पष्ट है कि इनमें तर्क और क्रमिकता का अभाव है। कई पुराणों में शिव अथवा विष्णु की सिर्फ महत्ता का उल्लेख है, जबकि मिथकीय समकालीन अर्थवत्ता की खोज से जुडा होता है। ईसा के पूर्व पुराणों का जो स्वरुप था, उसे लोक साहित्य का रुप दिया गया। कई पुराणों के संस्कार चौथी और छठी शती के बीच गुप्तकाल में हुए और उन पर समकालीन जीवन का प्रभाव पडा। यह स्थान देने की बात है कि धर्मानुशासन पुराणों के मूल उद्देश्य में नही था। वे सिर्फ कथा बतलाते और इसके माध्यम से जीवन की समूची प्रक्रिया को एक धार्मिक अर्थ से जोड़ने की कोशिश करते थे। क्या इन पुराणो में हमारा इतिहास है ? तर्क एवं क्रमिकता के अभाव के कारण पुराणों को इतिहास नही माना जा सकता। फिर भी आदि इतिहास की जानकारी में पुराणों के महत्व से भी इंकार किया जा

सकता। पुराणों में सामंती समाज की मूल्य व्यवस्था का पूरा चित्र मिलता है यह वेदकालीन समाज से –अधिक विकसित व्यवस्था है। पुराणों में स्थापित मूल्य व्यवस्था ने भारतीय जनजीवन का सबसे अधिक प्रभाव डाला। इसलिए चमत्कारपूर्ण घटना–धर्मिता को छोड दे, तो पुराण न केवल धार्मिक ,बल्कि राजनैतिकार्थिक जीवन के मुख्य आधार रहे है और इन्होने जातीय मिथकों का विकास किया है। वे पुराणकथाऐं साहित्य के अंर्तगत आधुनिकता की भूमि पर एक निम्न मूल व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में स्वीकारी गयी है।[20]

हमारे सांस्कृतिक जीवन में कई मिथक है जिनका धार्मिक महत्व नही है, पर जो समय–समय पर समस्त जाति को अनुप्रमाणित करते रहे है। नचिकेता , जटायु, अभिमन्यु, एकलव्य के मिथक इसी तरह के है। आधुनिक कविता में राम और कृष्ण किसी धार्मिक स्वरुप में नही आते, वे समकालीन संदर्भ में समग्र मानवीय भावना और हमारी रचना प्रकिया का अविच्छिन्न हिस्सा बनकर उपस्थित होते है। होमर के इलियड या ओडेसी में परम्परागत ग्रीक नायकों को तत्कालीन संस्कृति की समूची रचना प्रकिया के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया था। इलियड और रामायण की कथा में काफी समानताएं है। इलियड में आर्गस ने अपने दो बेटों को राज्य से निकाल दिया था तथा रामायण की कथा में दशरथ की आज्ञा से राम और लक्ष्मण बन गये थे। हेलन और सीता दोनों दिव्य नायिकाएं थी,

20. साहित्य से साक्षात्कार–मलयज–पृ0–97

जिनके जन्म की कथा मिथकीय है। इलियड के नायक मैलिनस ने एक स्वयंवर में हेलन का वरण किया । उसकी अनुपस्थिति में पेरिस हेलन को चुराकर समुद्रपार ट्राय नगर में ले गया है। भयंकर युद्ध के बाद मैलिनस पुनः अपनी हेलन को हासिल कर लेता है। एविलस की हनुमान से, मार्स की कुंभकर्ण से, एंटीनर की विभीषण से संगति बैठती है। होमर ने ग्रीक देवताओं का जो चरित्र प्रस्तुत किया, वह पूर्णतः आध्यात्मिक नही लगता। तो देवता पूर्ण नही है और आपस में लड़ते है। फिर भी उनके माध्यम से भौतिक जीवन का सौन्दर्य व्यापकता से मूर्तिमान हुआ है। पश्चिमी साहित्य में यूलिसिज, प्रमथ्यु, सिसिफस, ऑडिपस, एलेक्ट्रा, आरेस्टिया, मिनास इत्यादि के मिथक मनुष्य की आधुनिक दिशा से उभरे है। इन्होने नये संसार की व्याख्या की है। नयी कथा की रचना की है। ये जीवन के मिथक बनकर आये है। हर राष्ट्र की सामाजिक आत्मा में मिथकीय भावना होती है। विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के मिथकों का तुलनात्मक अध्ययन करने वालो ने स्पष्ट कहा है कि भावनात्मक स्तर पर दुनिया—भर की मिथक पद्धति में अद्‌भुत समानता है, क्योंकि यह जीवन पद्धति के ऐतिहासिक विकास का ही कथात्मक रुप है। देवताओं के स्तर पर यह कथा विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न —भिन्न प्रतीत होती है किन्तु मानवीय अर्थवत्ता के स्तर पर हर संस्कृति की कथा एक जैसी है : उसका विकास एक ही ऐतिहासिक पद्धति से हुआ है।[21]

संस्कृति का इतिहास वस्तुतः मिथकों का इतिहास है।

---

21. साहित्य : नया मूल्यांकन—डॉ0 प्रेमशंकर— पृ0—41

इसकी रचना की प्रकिया अंर्तसामाजिक है। ग्रीकदर्शन में प्रमथ्यु मिलता है, जिसने देवताओं के यहां से अग्नि चुराकर मनुष्यों को दी। ऋग्वेद में मातरिश्वन का उल्लेख है। उसने भी देवताओं के यहां से आकाश के रास्ते अग्नि लाकर मनुष्यों को यज्ञ के लिये सौंपी। सिसिफस और हनुमान दोनों भिन्न कथा प्रसंगों में चट्टान उठाते है। क्षीरसागर में विश्राम करने वाले विष्णु की तरह मोसोपोटामिया के इया और ऐंको जल से घिरे देवता है। मत्स्यावतार की कल्पना मरभेद के रुप में मिलती है। प्रहलाद की भॉति मुसलमानों के इब्राहिम को आग में डाल दिया जाता है। और वे बच जाते है। मिलनास तथा मनु की तुलना की जा सकती है। इटली के जेनस, सिरिस, जोनों ,मिनर्वा एवं मूसा भारतीय संस्कृति के क्रमशः गणेश, श्री पार्वती या दुर्गा और कृष्ण से मिलते जुलते है। अमेरिका के एजटेक लोग भी प्रलय को मानते है। अफ्रीका के नीग्रो और भारतीय आदिवासियों के संस्कारों में बहुत समानता है। मिथक एक तरह से अंर्तसांस्कृतिक (ट्रांस कल्चरल) सृजन है ईरान और भारत के मिथकों में गहरा मेल है। अहुरमज्द वहां के प्रधान देवता है। पारसी धर्म पुस्तक यास्ना के 43 वें अध्याय में अंगिरा का जिक्र हुआ है। जिन्हें अथर्ववेद का ज्ञान सबसे पहले हुआ था। मोसोपोटमिया में प्राप्त चाल्डी साहित्य और वैदिक साहित्य की तुलना की जाती है। प्रधान देवता 'जेहोवा' और वैदिक साहित्य 'यहु' (वरूण के लिये प्रयुक्त) में काफी वैज्ञानिक समानता है चाल्डी शब्द

'अब्जु' वैदिक शब्द 'अप्सु' का विकृत रूप है। अब्जु का अर्थ जल होता है तथा वैदिक संस्कृति में इन्द्र के लिये अप्सुजित (जलो के विजेता) का नाम आया हैं हिब्रू और भारतीय सभ्यता में कई समानताएं है। ये समानताएं बतलाती है कि सिर्फ आधुनिक युग में ही, पहले भी लोग लगभग एक ही तरह की सभ्यता–संस्कृति का अनुभव विभिन्न ढांचे में कर रहे थे। आज की महासंस्कृतियों की अर्न्तधारायें एक समाज से दूसरे समाज, दूसरे समाज से तीसरे, फिर चौथे पांचवे समाजों की ओर उन्हें रौंदते–बनाते हुये जा रही थी। कृष्ण ने यमुना नही में कालिया नागासुर का दमन किया था। ग्रीक साहित्य का हिराकल्स एक अन्य नागासुंर "हिदा" से लड़ता है और उसका वध कर देता है। कृष्ण ने नाग का वध नही किया, क्योंकि भारतीय संस्कृति में नाग एक प्रमुख आराध्य जीव रहा है। कालिया अनियंत्रित काम का प्रतीक था। सामूहिक प्रेम के उदात्त स्वरुप की लीलापरक स्थापना के लिए उस नाग पर सिर्फ अंकुश ही पर्याप्त था । इसलिए कृष्ण ने हिराकल्स की तरह उसकी हत्या नही की। मिथकीय भावना प्रत्येक संस्कृति की संरचना में समान स्तर पर विकसित हुई। फिर भी अलग–अलग क्षेत्रों की विशिष्ट भौतिक और भौगोलिक स्थितियों के कारण मिथको के आधारभूत स्वरुप में थोडा–बहुत फर्क आ ही गया। दो संस्कृतियों की भौतिक स्थितियों में तब भी इतनी भिन्नता नही थी कि मनुष्यों का विकास विपरीत एतिहासिक क्रमों में हुआ हो। विश्व

भर में मनुष्य के एक ही इतिहास के भीतर कोई संस्कृति आगे रही, कोई पीछे। कोई मायने में पीछे। कोई सभी मायनों में बहुत आगे, कोई सभी मायनों में बहुत आगे, कोई सभी मायनों बहुत पीछे। वर्ग विभाजित समाज में धार्मिक व्यवस्था भी विषमता पर आधारित होती है। धर्म यहां तक बतलाता है कि अमुक तरह के काम ऊँचे लोग ही कर सकते है, अतः बॉकी को इसमें नही पड़ना चाहिए। जाति के आधार पर बटे समाज में ऐसा अधिक होता है। नतीजतन पिछडें समाज के लोगों को उनकी निम्नता पर विश्वास मजबूत कराने वाले टोटम टैबूज अथवा वर्जनाएं हावी रहती है। एक ही दुनिया में आदिवासी और डिस्को कल्चर के आधुनिक अमीर दोनों रहते है। दोनों की मूल संरचनाओं में भारी अंतर होता है, फिर भी प्रवृत्ति से डिस्को कल्चर की अमीर युवतियां युवक आदिम होना चाहते है। दूसरी ओर आदिम हालतों जी रहे मनुष्य प्रौद्योगिक संस्कृतियों की उपलब्धियों को बहुत कुछ बेगानो की नजर से देखते है । मनुष्य और मनुष्य के बीच यह भीषण दूरी कायम है। कुछ ऐसे अद्यरुप है, जो प्रौद्योगिक संस्कृति के मानवीय जीवन को हमेशा घेरे रहते है, तो इसमें भी इंकार नही किया जा सकता कि प्रौद्योगिक संस्कृति के मूल्य आदिवासी जीवन के बीच जा रहे है। किन्तु आदिवासी पिछड़े और प्रौद्योगिक मनुष्य के बीच की सांस्कृति दूरी तब तक आर्थिक शोषण पर आधारित समाज व्यवस्था नही मिटेगी।

'मैक्स बेवर' ने धर्म का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करके जटिल समाजों में इसके बदलते स्वरुप का विश्लेषण किया था। इसी दिशा में नये समाजशास्त्रियों ने धर्म एवं सामाजिक जीवन, अर्थनीति, मनस्तत्व आदि के विभिन्न आयामों के बीच अंर्तसंबंध की स्थापना की थी। इस परिप्रेक्ष्य में आलोचना की जाये ,तो हम देखेंगे कि आर्थिक संगठनों के आधुनिकीकरण, राजनैतिक दलों के विकास ,मजदूर संघो, युवा छात्र आंदोलन कार्यरत विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाओं, पुरुष नारी के बीच बदलते संबंधों तथा मास मीडिया के विस्तार के परिणामस्वरुप परम्रागत धार्मिक स्वरुपों में तेजी से बदलाव आया है। शास्त्रीय मूल संरचना टूटी है। सामाजिक जीवन नवीनताओं की तरफ आकर्षित हुआ है। अब इस नये ढांचे में धर्म अपनी संगति किस रुप में स्थापित करना चाहता है, इसका विश्लेषण करना चाहिए।

हर युग में देवता एक जैसे कभी नही रहे। मिथकीय विकास की प्रकिया में स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर की विभिन्न मूर्तियों का विष्णु में, फिर इनका सामाजिक अवस्थाओं की एतिहासिक व्याख्या उपस्थित करते विविधस्तरीय अवतारों में विकास हुआ। वैष्णव चेतना के मूल मे रहने वाले नारायण एक अवैदिक देवता थे, जो कालांतर में सामाजिक भक्ति के महत्वपूर्ण केन्द्र के रुप में स्थापित हो गये। ऋग्वेद में विष्णु इन्द्र के सहायक भर थे। नारायण एक पूर्ण देवता के रुप में अनंत जल (सांस्कृतिक अचेतन) में नागशाया पर

निद्रामग्न रहते है और शक्तिशाली हो जाते है। यहां मनोसामाजिक विश्लेषण का भी दरवाजा खुलता हे। गुप्तकाल में विष्णु आराधना की परिधि का विस्तार हुआ। इसमें श्री अथवा लक्ष्मी का देवीस्वरुप सम्मिलित हो गया, क्योंकि एतिहासिक दृष्टि से भी वह काल आर्थिक समृद्धि का काल था। बहुत साफ है कि युगीन आकांक्षा और जीवन के संघर्ष ही देवस्वरुपों का निर्धारण करते है।[22]

देवता का विकास मानवीय आशाओं और संघर्षो के विकास से संबद्ध है। 'मिलयम मार्शल अर्बन' ने लिखा है कि धार्मिक प्रतीकों अथवा प्रतिमाओं के माध्यम से ऐसे तथ्यों की अभिव्यक्ति होती है, जो अधिक सार्वभौम और आदर्श सम्बन्धों पर आधारित हो। विस्तार से बचने और आदर्शवाद के दृष्टिकोण की वजह से इन तथ्यों की अभिव्यक्ति सीधे नहीं की जाती, प्रतीको में की जाती है। ऐसे प्रतीकों को तीन वर्गो में बांटा जा सकता है– (एक) देववस्तु के प्रतीक, (दो) पवित्र कार्यो के प्रतीक, और (तीन) एतिहासिक घटनाक्रम के प्रतीक। इनमें से कुछ प्रतीक मिथकीय अवधारणा के स्तर तक विकसित हो जाते है और मिथकीय अवधारणा का भी बार–बार नवमीथकीयकरण होता जाता है।। हर काल की भौतिक परिस्थितियों के अनुरुप नये–नये देव व्यापार या कार्य जुटते है, जो प्रतीकात्मक सतर पर अंततः मानव जीवन के विकास की ही अंर्तकथा कहते है। मनुष्य के जीवन के नये अर्थो की तलाश किस रुप में की, इस ओर संकेत देते

---

22. साहित्य की अर्न्तयात्रा –डॉ0 सुधेश–पृ0–60

है। प्रतीकीकरण और मिथकीयकरण मानवीय जीवन की हर अर्थ पद्धति को एतिहासिक अस्तित्व से जोड़ देता है तीर्थ अथवा देवप्रतिमा को मानव चेतना की गहन अंर्तकथा में बदल देता है सवाल है कि हमारी दृष्टि इस तरफ बढ़ती है अथवा नही इसलिए मानवीय कथा के मिथकीयकरण की प्रक्रिया का महत्व आंका गया है, क्योंकि यह जीवन के प्रति एक जाति की अवधारणाओं का विकास है। मैक्स वेबर ने लिखा है कि मिथकीय विचार प्रतीकात्मक अवधारणा के कारण ही संभव है। आदिम संस्कृति में ईश्वर के स्वरुप और उनके गुणों के स्वरुप में खास अंतर नही था। वेद से उदाहरण लेकर उसने स्पष्ट किया कि अग्नि देवता "अग्नि की तरह थे। समाज के लोगों के बीच जब इसका देवस्वरुप प्रकट हुआ। तो धीरे–धीरे इस देव स्वरूप में परिवर्तन हुआ। वह अमूर्तता से मूर्तता की ओर बढ़ा मैक्स बेवर धर्म के विकास को सामाजिक संरचना के विकास से जोडकर देखता था।[23]

नवमिथकीयकरण अथवा पुर्नमिथकीयकरण परम्परागत धार्मिक स्वरुप से प्रस्थान है। यह धर्म की अवरुद्ध अवस्थाओं को तोड़कर मानवीय अवधाराओं में गति और बेचैनी लाता है। उनमें विकसित यथार्थ की स्थापना करता है। क्या धर्म और यथार्थ दो चीजें है ? मिथक का रिश्ता धर्म से है या यथार्थ से ? क्या धर्म एक भ्रांति नही है ? आधुनिक जगत में ईश्वर के मरने की घोषणा हो चुकी है।

---

23. एस्थेटिक हिस्टारिकल समरी –कोन्चे–पृ0–44

हम क्यों जीतें है, किसके लिए जीते है और जीने के क्या रास्ते है—इन छोटे दिखने वाले प्रश्नों के जवाब पहले धर्म के पास थे। ईश्वर के मरने के विविध घोषणाओं के बाद मनुष्य की निराश्रयता बढ़ गयी थी। वह अपने संघर्षो के बीच बेचेन रहने लगा था। किन्तु क्या यह बेचैनी अवधारणात्मक नही थी ? मनुष्य ने अपनी अवधारणाओ के स्त्रोत को पूरी तरह बदल दिया। पहले जहां ईश्वर नही था वहां अब उसने खुद और अपने और अपनी भौतिक जीवन की सीधी प्रतिष्ठा की। उसने अपने विश्वासों के स्तर पर दो सृजनात्मक प्रक्रियाये शुरू की —(क) अबमिथकीयकरण (ख) पुर्नमिथकीयकरण। धर्म का सामंतीकिला टूट रहा था। विश्वासो का रूपान्तरण हो रहा था देवताओं के अर्थ बदलने लगे थे इस तरह आदमी आधुनिक जीवन की ओर बढ़ रहा था उसकी भाषा और संस्कृति में मिथक उपस्थित था और उतना ही अतीत ही उपस्थित था। जातीय परंपरा अपनी आधुनिक यात्रा में अनुपस्थित नहीं थी। दुर्खीम, मिरवाइल ग्रान्ट और क्लाइड क्लुखोन मिथक को धर्म से अलग करना एक बड़ी भूल मानते है, किंतु धर्मनिपेक्षीकरण आज के मिथकीय संसार का सबसे बड़ा सच है। मिथक जड़ ही नही होते ,क्योंकि उसके साथ युग की चेतना रहती है। संगीत , कविता चित्र में इसकी कलात्मक अभिव्यक्ति परम्रागत धर्म के विकल्प की खोज है। धार्मिक समाज की सांप्रदायिक कटुता का मिथक में कोई स्थान नही होता। हिन्दू मिथक मुसलमानों के भी

उतने है, जितने मुसलमानों के मिथक हिन्दुओं के धार्मिक मोर्चे पर बंटा समाज मिथक की भावभूमि पर एकजुट हो जाता है और अपने राजनैतिकार्थिक लक्ष्यों की ओर देखता है। मिथक पूरी मानवता की कला है। यह अतीत की नयी मात्रा है, जो हमारे आधुनिक जीवन में शामिल है। संपूर्ण सामाजिकता के विकास में इसका संबंध है। पहले धर्म को राज्याश्रय मिलता था, पर मिथक सामान्यतः लोकजीवन से पुडे रहते थे। वे उस समय व्यस्थाओं को व्यक्त करने के सशक्त माध्यम होते थे। मीरा पर हिन्दू राजा ने अत्याचार किया, पर उनकी कृष्णभक्ति एक प्रतिवाद से कम क्या थी, इस्लाम के बारे में कहा जाता है कि एक मुसलमान के पास राष्ट्र से अधिक बड़ी चीज इस्लाम होती है। किन्तु आधुनिक युग में क्या इस्लाम के बावजूद अलग राष्ट्रीय जमीन और संस्कृति की रक्षा को लेकर राजनैतिक युद्ध नही हुए ? भारत का समाज इतना विशाल है और इसके आधार इतने फैले हुए है कि एक धर्म में भी समरुपता कठिन है। यह नई सभ्यता है, जो लोगों के आचार –विचार में समरुपता ला रही है।

इतिहास की अवधारणा और मिथक

क्या आधुनिक समाज में इतिहास ने मिथक की जगह छीन ली ? क्या मिथक वही शुरु होता है जहां इतिहास खत्म होता है ? इतिहास की अवधारणा में मिथक का कितना स्थान है ?

पहले एक काल था जब देवता और जगत की उत्पत्ति के मिथकों का संकलन अधिक किया जाता था। धीरे–धीरे वंशों का चरित्र और निजंधरी कथाएं उस संकलन में स्थान पाने लगी। –पुराणों की रचना हुई। पुराणकथाओ के नये–नये काव्यरुप सामने आये, जिनमें अतीत के परिप्रेक्ष्य में मानवीय जीवन को एक भावात्मक क्रम में समझने की चेष्टा हुई। तिथि क्रम पुरातात्विक सामग्री अथवा दस्तावेजों की ओर तब भी ध्यान नही गया था । फिर भी मिथकीय सृजन में जनजीवन की संवेदना प्रतिविम्बित होती थी। सामाजिक संघर्षो की कथा का मिथकों के जरिये विकास होता था और जीवन की बदलती अवधारणाओं का संकेत मिलता था। अंग्रेजों ने अतीत की सामाजिक सांस्कृतिक स्मृतियों को "शासक वर्ग के राजनैतिक इतिहास" में बदल दिया।[24] इस तरह पुराने संकल्पों के बीच एक आधुनिक संकलन आया, जिसमें क्रम और संगीत ज्यादा थी पर क्षेत्र भिन्न था। इसमें राजनैतिक सत्ता परिवर्तन शासकों के जीवन वृतांत और युद्धों में विजय और पराजय के हवाले को इतिहास बतलाया गया था। यह साबित करने की चेष्टा की गयी थी कि एक जाति का राजनैतिक

---

24. अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा –रमेश कुंतल मेघ–पृ0–89

सांस्कृतिक पतन किस प्रकार हुआ पश्चिम ने उसके अस्तित्व का संकट दूर करने के लिए अपने ऐतिहासिक दायित्व का पालन किस महानता से किया। आज के यथार्थवादी इतिहासकारों की नजर में वह इतिहास भी अब इतिहास न रहा , झूठ हो गया। और माना जाने लगा कि किसी मुल्क का इतिहास वस्तुतः उसके राज्य का नही, उस मुल्क में रहने वाले लोगों का सांस्कृतिक आर्थिक इतिहास होता है, अर्थात एक समाज के मनुष्यों का इतिहास। उसकी जाति संरचना और जीवन की आकांक्षाओं और संघर्षो का इतिहास । इसी इतिहास से पता चलता है कि मनुष्य एक विकासशील आर्थिक प्राणी है।

आर्थिक मनुष्य का सांस्कृतिक इतिहास जानने के लिये जातीय मिथकों का वैज्ञानिक अध्ययन जरुरी है। इस परिप्रेक्ष्य में इतिहास ने मिथक की जगह छीन लेने की जगह पर उसके कार्यो को आगे बढाया है इसने जन जीवन की व्यवस्था का विश्लेषण गहरी अंतर अनुशासनात्मक पद्धति करना शुरु किया है। फलतः मिथक की जरुरी भूमिका एक नये परिप्रेक्ष्य में उजागर हुई है । मिथक के पास इतिहास की तरह तथ्यात्मक दस्तावेजों का भंडार नही होता, फिर भी वह इतिहास का इतिहास बतलाता है। हर जाति अपनी ऐतिहासिक सच्चाइयों को मिथकों में प्रकट करती है और उन्हें अपने जीवन के आस–पास रखती है। उसके लिये इतिहास से अधिक आत्मीय और विश्वसनीय उसके मिथक होते है। हर क्षण वह इनका अनुभव करती

है और इन्हीं के माध्यम से उसे अपने गहरे इतिहास का भी अनुभूति होती है। इतिहास मिथक का विज्ञान है। मिथक इतिहास की संवेदना है । वह वस्तुतः जनता का भोगा हुआ ऐतिहासिक यथार्थ हे। निश्चय ही मिथकीय भाषा अथवा कथन बहुत बिखरा, टूटा और क्रमहीन होता है, पर वह अर्थवान होता है, इतिहास का काम है इस अर्थ को ढूंढ़ना और उसे एक व्यवस्थित क्रम में रखना। मनुष्य जीवन के विकास के साथ जिये हुये यथार्थो का मिथकीय स्वरुप बदलता है जाति का मनोविज्ञान, लोगों के आचरण और सामाजिक सौन्दर्य—बोधात्मक अवधारणा उसी के अनुरुप परिवर्तित हो जाते है। समाज के द्वंद्वात्मक विकास के क्रम में नये—नये विश्वासों का उदय होता है। इस सबसे अर्थात जातीय मनोविज्ञान ,जनआचरण ,सामाजिक —सौन्दर्यबोधत्मक अवधारणा और विश्वासों के भीतर अपनी जडे फैलाकर ही धर्मतंत्र ,राजतंत्र सामंतवाद ,पूंजीवाद और साम्राज्यवाद अपनी राजनैतिकार्थिक व्यवस्था मजबूत करता है इनके मूल्य मिथकों में पनपनते है और रुपांतरित होते है। यही वजह है किसी जाति अथवा कुछ जातियों की सम्मिलित संस्कृति के इतिहास का सही विश्लेषण करने के लिये मिथको के विकासशील कलात्मक संसार का संरचनात्मक अध्ययन जरूरी है इस अध्ययन में इतिहास में तथ्यात्मक सामग्रियों के साथ मिथको के साहित्यक रूप का महत्व कम नही है। काफी बिखराव और विरुपीकरण के बावजूद मिथकथाओं में इतिहास की वस्तु छिपी रहती

है। एतिहासिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बहुत से आयाम मिथकों की देन है, खासकर सांस्कृतिक आयाम। इतिहास की छिपी वस्तु की खोज जरुरी इसलिए है कि मिथको से कई विलुप्त युगों की जीवन पद्धति और संवेदनाओं को समझने में मदद मिलेगी। उनके जरिये पता लगने वाले वंशवृक्ष या इतिहास पर हम कितना भरोसा कर सकते है— पर यह सवाल उठ सकता है। परन्तु प्राचीन काल के लोग इतिहास से विमुख नही थे, इसका पता हमें उनके मिथको से चलता है। पहले पुरावृत्व को ही इतिहास समझने की परम्परा थी।—"चिरम। चिरंतनम्। पुराणमित्यर्थान्तरम्। अतीतम्। यथा इतिहासः पुरावृत्तं मिति केचित" (शब्द कल्पद्रम) । चिरंतन अतीत की एंतिहासिक गाथा को पुरावृत्त समझने के कारण कुछ विद्वानों देवकथा, पुराणकथा आदि को छोड़कर इसे मिथक का सामानार्थी माना है और बतलाया है कि वेद, उपनिषद या पुराण की कथाओं में अनेक पुरावृत्त है जिनका साहित्यिक मूल्य है। वैदिक कथाओं से अद्यतन काल तक रचित अनेक कथा काव्यों पुरावृत्त मिलते है। इस तरह उनमें इतिहास की कलात्मक उपस्थिति बनी रहती है। प्रागैतिहासिक काल में आदिम मनुष्य ने प्रकृति से अपने रिश्ते को पुरावृत्त में ही व्यक्त किया था। सृजन विध्वंस के मध्य प्राचीन मनुष्य की सैद्धान्तिक जिज्ञासाएं काव्यात्मक थी। उसके आस—पास को घेरने वाली भौतिक परिस्थितियां —सूर्य, चंद्र, अग्नि, ऑधी, जल, आदि उसके कौतूहल के प्रधान केन्द्र थे। उसने

अपनी भाषा में जो अनुभव व्यक्त किया, वह मिथकीय था। आदिम युग में पुरावृत्त, भाषा और धर्म अलग–अलग नही थे। इन तीनों का रुप एक था। इसलिए मनुष्य का आदिम इतिहास पुरावृत्तों में है।

अगर इतिहास मनुष्य के सामाजिक विकास की पहचान करता है तो क्या मिथक इस पहचान को धुंधला करता है ? या मिथक प्राग इतिहास की चीज है ? मनुष्य की वैज्ञानिक सूझबूझ अतीत के जिस क्षितिज के पास जाकर खत्म हो जाती है और उसके पार की घटनाओं के पुरातात्विक अवशेष नही मिलते अथवा पता नही चलता कि वे कैसे घटी तो माना जाता है कि वह प्राग इतिहास का काल है। प्राग इतिहास "नान–हिस्ट्री' नही है। राम, कृष्ण काली आकद प्राग इतिहास का पुनसृजन है ? वस्तुतः ये सभी मिथक है और मिथक मानवीय प्रकृति का ही सारतत्व होता है। ये मानवता की वे बडी घटनाएं है, जिनका लागों के जीवन पर दीर्घस्थायी संरचनात्मक प्रभाव पडा। ये प्राग इतिहास की अंर्तकथाएं है, जो ऐतिहासिक यात्रा में हमेशा नया रुप ग्रहण करती रही। इस तरह मिथकों के निर्माण और विकास में प्राग इतिहास और इतिहास दोनों का योग है। आज भी व्यक्ति के पारिवारिक और सामाजिक जीवन में प्राग इतिहास और इतिहास अपने घटनात्मक अर्थ में नही, बल्कि व्यापक सांस्कृतिक अर्थ में शामिल है– मिथकों और क्रियाअनुष्ठान के भीतर मिथक जीवन के व्यापक अर्थो की खोज है, जबकि क्रियाअनुष्ठान इन अर्थो का ठहराव

है। इस खोज की बाधा है। मिथक इतिहास की गहराई समुद्र का दरवाजा है। उससे इंकार नही किया जा सकता कि मिथक की पहचान के बिना संस्कृति के उत्थान पतन और इसकी विभिन्न मंजिलों की व्याख्या नही हो सकती । आधुनिक चेतन इन मिथकों पर नयी रोशनी फेंकता है। समय के नये आयाम के खड़े मनुष्य, इसकी चीजों तथा इनसे संबंध की उसकी दुनियाओं को मिथक तराशता है, सोच की नयी भाषा देता है और इस भाषा में मनुष्य अपनी एक अलग पहचान कायम करता है सार्वधिक जर्जरता, थकावट एवं संकट की घड़ी में मिथक ही मानवीय अभिव्यक्ति के सबसे बडे सहायक रहे है।

भारत के ऐतिहासिक मनुष्य में प्राग इतिहास की चेंतना कितनी प्रबल रही है, इसका पता उसकी कला और संस्कृति देखकर चलता है। सत त्रेता और द्वापर युग प्राप्त इतिहास के अंर्तगत आते है। ऐतरेय ब्राह्मण (33/3) के अनुसार सोनेवाला युग कलयुग, जंभाई लेनेवाला द्वापर और चल पड़ने वाला कृत (सत) हो जाता है। बौद्ध धर्म ने प्रागैतिहासिक मानसिकता से निकालकर मनुष्य को इतिहास चक्र से जोड़ने का प्रयत्न किया था, किन्तु उत्तर मध्यकाल में प्राग एतिहासिक मिथक पुनः जोर–शोर से स्थापित हो गये थे, निश्चय ही पहले से परिवर्तित रुपों में। गुप्त साम्राज्य इन मिथको के कलात्मक विकास का काल था। इसके पूर्व हिन्दू और बौद्ध धर्मो में जो संघर्ष हुआ था, बुद्ध इतिहास के नायक थे, राम, कृष्ण, शिव,

प्रागैतिहासिक, एतिहासिक होते हुए भी बौद्ध धर्म भारतीय समाज में पनप नही सका, प्रगैतिहासिक चेतना से जुडे होकर भी हिन्दुत्व ने समूचे जनजीवन को बांध लिया ,क्योंकि एक तरह से वह इतिहास का ही सांस्कृतिक अवचेतन था।[25] हमारे इतिहास बोध पर यह अवेचतन हमेशा हावी रहा। और आधुनिक जीवन में भी बार–बार हावी होता रहा। यह एक द्धंद्ववाद है, जिसमें हमारा अवचेतन इतिहास द्वारा पुर्नरचित होता रहा, इसे नया आकार मिलता रहा और इसने हमारा अवचेतन इतिहासबोध की भी सीमाएं तय की। क्या रामायण और महाभारत की कथाओं में काफी अंर्तवस्तु इतिहासकाल की नही है ? लीला राम, चीरहरण की कथाओं से उभरता कृष्ण का रसिक रुप क्या सांमतवाद की देन नही है ? शंको के ह्रासकाल में महादेव का रुपांतरण रसभोगी गोपाल से हो गया था। इतिहास महानता का निरुपण नही, संकट का बोध है। इतिहास का हर संकट मिथक में प्रतिविम्बित होता है, इसलिए मिथक की संरचना को इतिहास का विरोधी नही कहा जा सकता। तिथि काल के अभाव तथा कथा की विश्रृखंलता–विरुपता के बावजूद मिथक मनुष्य के एतिहासिक जीवन के साथ बदलते और विकसित होते रहते है। इतिहास उन पर अपने चिह्न अंकित करता गया है और खुद भी उनसे संवेदित होता रहा है। कालिदास के काव्य के प्रगैतिहासिक चरित्रों का ऐतिहासिक अस्तित्व न माना जाता हो। परन्तु वे इतिहास की बाहरी घटनाओं से अधिक यथार्थपरक है।

---

25. हिन्दी साहित्य और मिथक –डॉ0 रामराज–पृ0–24

उनकी काव्यात्मक संवेदना सामंती राष्ट्र के सांस्कृतिक सूत्रों को आपस में जोड़ने का काम करती है और राज्य के इतिहास की सीमा में कैद नही रहती।

हमारे यहां प्राग इतिहास को धार्मिक तथा इतिहास को राज़ाओं का इतिहास मानने की गलती होती आयी है। पारंपरिक इतिहास –दर्शन धर्म ,अर्थ, काम, मोक्ष की उपदेशसहित व्याख्या और प्राचीन चरित्रो के विवरणात्मक उल्लेख से सम्बन्धि था उसमे अर्थ और काम की अपेक्षा धर्म एवं मोक्ष की दृष्टि प्रधान रही। अतीत वैसा ही दिखेगा, जैसी दृष्टि होगी। विष्णुपुराण की टीका में श्री धराचार्य द्वारा उद्धृत एक श्लोक के अनुसार ऋषियों द्वारा कहे गये नाना उपदेश ,देवताओं औा मुनियों के चरित्र तथा अद्‌भुत धर्म कथाओं वाली ग्रंथ इतिहास कहलाता है। पुराणो का इतिहास देवलोक और मृत्युलोक का सम्मिलित इतिहास है। इतिहास की पुरातन व्याख्याओं में बहुत सीमित विषय की ओर संकेत है और इतिहास के लिए जो दृष्टि होनी चाहिए ,वह बिल्कुल नही है। इतिहास के नाम पर जनश्रुतियों के आत्मनिष्ठ रुप तथा अतिकाल्पनिक कथाएं ज्यादा है। इतिहास की शक्तियों की पहचान ईश्वर की शक्ति के रुप में हुई है। अपने बारे में "गीत" में कृष्ण ने कहा कि गुजरा अतीत ,उगता वर्तमान और आनेवाला भविष्य सब उनके भीतर है। वे एक संपूर्ण इतिहास है।[26] इस तरह उन्होने इतना तो बतलाया कि सृष्टि का व्यापार एक

---

26. साहित्य और मिथक–गौरीनाथ नौटियाल–पृ0–77

नियम के आधीन है ,किन्तु वह नियम भौतिक न होकर अध्यात्मिक है, "होइहे वही जो राम रुचि राखा' की विचारधारा ने इतिहास की निर्माणकारी शक्तियां ईश्वर के आधीन कर दी, जो अंततः उसके अंश राजा अर्थात शासक शोषक वर्ग के अधीन हो गयी। धर्मो के राजा को ईश्वर का अंश माना गया है। इतिहास की शक्तियों को साधारण मनुष्य के हाथों में वापस करने में सबसे बडी भूमिका वस्तुवादी दृष्टिकोण की है, जो सबसे पहले यह कहता है कि शोषणमूलक समाज व्यवस्था में राजा वस्तुतः शासक शोषक बर्ग का प्रतिनिधि होता है। वह ईश्वर का अंश कभी नही होता है। यहीं से इतिहास की परम्परागत अवधारणा की जगह आधुनिक अवधारणा स्थापित होने लगती है और मिथक की शासक शोषक वर्ग का हथियार न बनकर जनता की भावनाओं और विचारों को अधिक उच्च आवाज में प्रति–ध्वनित करने लगता है। सामाजिक तंत्र में परिर्वतन भाषा और सोच की संरचना में भी परिर्वतन ले आता है।

रामविलास शर्मा ने लिखा है –"भारत जैसे देश में प्राचीन इतिहास के प्रति अभिरुचि होना स्वाभाविक बात है। किन्तु इस देश में पौराणिक दृष्टिकोण इतना प्रभावशाली रहा है कि इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि कम , इस पौराणिक दृष्टि का परिचय ही अधिक मिलता है। जो लोग पुराणों के विरोधी है, वे भी एक प्रकार की पौराणिक दृष्टि हटाकर उसकी जगह दूसरे प्रकार की पौराणिक दृष्टि

प्रतिष्ठित करते है।' पौराणिक दृष्टि का विकास छुआछूत, सगुन–असगुन विचार ,जाति– व्यवस्था और ऐसे कर्म –कांडों में हुआ जिनका अपने सांस्कृतिक इतिहास से जरा भी लेना –देना नही था । राम के भक्त होकर भी लोग अछूतों से दूर रहते थे और कृष्ण की आराधना करते हुए भी युवतियों को घर में बंधुआ मजदूर बनाकर रखते थे। नये–नये अंधविश्वासों का जन्म हो रहा था। स्वाधीनता आन्दोलन के भीतर बुद्धिवाद की धारा ने सामाजिक परिवर्तन की चेष्टाओं के साथ इतिहास की आवश्यकता पर भी बल दिया, क्योंकि उसके बिना जातीय पहचान खो गया थी और हमारी जाति अपनी यात्रा में लम्बे भटकाव का शिकार हो गयी थी। वह़ एक तरफ रुढ़िवादिता और दूसरी तरफ पूंजीवाद के जाल में फॅसती जा रही थी। जातीय इतिहास से विहीन राष्ट्र अपनी आत्मा सुरक्षित नही रख पाता और वह खुद टूटकर खो जाता है। पौराणिक चेतना में प्रतिगामिता के समानांतर एक ऐसी एतिहासिक सांस्कृतिक ताकत भी थी, जिसकी वजह से उतने वर्षो की गुलामी के बावजूद एक जाति की आत्मा मरी नही थी ,वह अपने संकट का एहसास कर रही थी वह जूझ रही थी ,परन्तु वह इतिहास का विकल्प नही बन पा रही थी। उसे नया जीवन मिला बींसवी शताब्दी के नवजागरण काल में, जब पौराणिक चेतना का पुर्नमिथकीयकरण हुआ, झूँठे कर्मकाण्डों की भीषण आलोचना हुई। क्या ह़मारा पहला इतिहास जातीय मिथकीं के रुप में ही सामने नही

आया था ? अंग्रेजों द्वारा अपने हक में लिखवाया गया इतिहास हमारा इतिहास नही था।

इतिहास आदमी की अपनी पहचान है। यह उसके अस्तित्व और सामाजिकार्थिक संबंघों की चेतना के लिए आवश्यक है। हर युग में जीवन के अर्थ और उद्देश्यों की खोज के अपने ढंग होते है। कई तरह की संस्थाएं बनती है टूटती है। युद्ध हर शान्ति का पीछा करता रहता है। एक समाज के इतिहास का रिश्ता भी हर दूसरे समाज के इतिहास से होता है, इसलिए मनुष्य के इतिहास के अंर्तगत की दुनिया के सारे इतिहास आते है। इतिहास में घटनाएं घटती है। इनके पीछे विचारधाराओं का संघर्ष रहता है, यह संघर्ष अपने मिथक गढ़ता है, अपने संकेतों को भाषा के एक खास ढांचे में व्यक्त करता है। मिथक इतिहास में छिपे ऐसे संकेतों को कथात्मक रुप दे देता है। वह एक व्यक्ति नही , विचारधारा की कथा होती है। मिथक जातीय जीवन पर गहरे असर डालते है, क्योंकि उनके पीछे गहरी प्रेरणा और बड़े विश्वासों की भूमिका होती है। इतिहास में ऐसा कुछ होता घटता है, जो अपना तथ्यात्मक दस्तावेज छोड़े बिना विलुप्त हो जाता है और बाद के मनुष्यों को उन अनकही घटनाओं के बारे में थोड़ा बहुत सिर्फ मिथकों से चलता है। इतिहास की बहुत सी जरूरी सामग्रियां इतिहास लेखन में शामिल नही हो पाती, विज्ञान भी वहां पहुंचने से रह जाता है, राजनीति में रोड़ा अटकाती है, पर मिथक उन सबको वाणी देता

है। विवेकानन्द ने एक बड़ी अच्छी बात कही है– "विश्व के महानतम् व्यक्ति अपरचित से गुजर गये। बुद्ध और ईसा जिन्हें हम जानते है, द्वितीय श्रेणी के नायक है, उन महानतम व्यक्तियों की तुलना में जिन्हे दुनिया नही जानती । सैकडों ऐसे अपरचित से गुजर गये। बुद्ध ईसा जिन्हें हम जानते है द्वितीय श्रेणी के नायक है। उन महानतम व्यक्तियों की तुलना में जिन्हें दुनिया नही जानती सैकडो ऐसे अपरचित नायक हर देश में चुपचाप करते रहते है, चुपचाप जीते है और चुपचाप गुजर जाते हैं। समय आने पर उनके विचारों की अभिव्यक्ति बुद्ध और ईसा के माध्यम से होती है।' इतिहास जिसके बारें में कोई परिचय नही देता, मिथक उसके बारे में बतलाता है। इतिहास मिथक में अनुभूति बनकर रहता है और अपनी कलात्मक रचना अर्जित करके सदियों तक जनजीवन को को अनुप्राणित करता रहता है। इतिहास की पोथियां सीधे लोक जीवन को प्रभावित नही कर पाती। मिथक घटना के साथ बनता है। इतिहास घटना के बहुत याद बनता है मिथक इतिहास बनाने में बहुत मद्द देता है। और लम्बे काल के बाद इतिहास भी मिथक बन जाता है।

कोई भी भाषा मिथक रहित नही है, बल्कि मिथक की रचना स्वतंत्र रुप में नही होती।। मिथक स्वयं निर्मित अंर्तविरोधी को नही ,सामाजिक अंर्तविरोधों को व्यक्त करता है। सामान्यतः हर मिथक में कौरव पांडव ,राम, रावण, शिव, दक्ष प्रजापति की तरह के विरुद्धों

के युग्म मिलते है। वे जहां तक पैदावार की भौतिक शक्तियों अथवा जीवन के भौतिक साधनों (रुपों) एक तरह से मानवीय गतिविधियों से मूल आधारों और इनकी दशाओं से ताल्लुक तथा इनमें अपनी जड़े रखते है, वहां तक वे इतिहास की प्रकिया को उदघाटित करने का काम भी करते है। वे धर्म का सारा रहस्य खोल देते है —मनुष्य का सांस्कृतिक जीवन उद्घाटित कर देते है, क्योकि अंततः मुख्य सवाल यह है कि हम मिथकों से काम लेते है और उसका इस्तेमाल किस ढ़ंग से करना चाहते है।[27]

मिथकों के जरिये हम वर्गीय अंर्तविरोधियों को समझना या व्यक्त करना चाहते हैं या नही, असल बात यह है। सैकडों वर्षो से चली आ रही वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया में हम साफ देखते है की कोई वर्ग जीतता है, कोई हारता है और कोई विलुप्त हो जाता है। हजारों वर्षो का हमारा सभ्यता इतिहास यही बतलाता है कि वर्गो के नये—नये स्वरुपों का उदय और अस्त होता रहा है। मिथक का हर चरित्र किसी न किसी वर्गीय समूह का प्रतिनिधि और उसका मनोदशा का सूचक होता है और जब तक वह वर्गीय समूह अपने अस्तित्व में रहता है, अपने मिथकों में जीना बंद नही करता, भले हर बार वह उसे नये, बल्कि आधुनिक तरीके से जिये। मिथकों का वर्ग संक्रमण होता रहता है एक वर्ग समूह के मिथक दूसरे वर्ग समूह के लोग अपना लेते है, किन्तु यह सब निश्चत सामाजिक संरचना का हर उलटफेर मिथक के

---

27. हिन्दी साहित्य और मिथक—डॉ0 रामराज—पृ0—71

में भी फर्क ला देता है। वर्ग संक्रमण की प्रक्रिया में भी मिथक हूबहू वही नही रह जाते, जो संक्रमित होने के पहले रहते है। हर हालत वे विकसित होते रहते है और स्थिर चरित्र के नही होते। इस तरह जिस प्रकार इतिहास का एक निश्चित विकास क्रम है, मिथको के द्वंद्वात्मक विकास का क्रम भी उसके साथ–साथ चलता है। समाज समग्र "ऑर्गेनिज्म " का हर बदलाव मिथक की समग्र संरचना को प्रभावित करता और उसे बदलता है जीवन और कला साहित्य दोनो क्षेत्रों में।

मिथक मनुष्य के भौतिक जीवन का एक सांस्कृतिक उत्पादन है। सिर्फ अपने आर्थिक अस्तित्व की वजह से ही नहीं , बल्कि हर तरह की सामाजिक गतिविधि के बीच से व्यक्ति अपने जीवन को अभिव्यक्त करना चाहते है। मिथक भी उनके जीवन की समूची प्रक्रिया के भीतर से बनते है। उत्पादन के तरीके तथा संबंध जिस प्रकार सामाजिक जीवन में अपना स्थान बनाते व्यक्तियों के जीवन को विभिन्न रुपाकार प्रदान करते है, मिथकों तथा इनके प्रति मानवीय विश्वासों को भी वे कोई न कोई संरचना प्रदान करते रहते है। मिथक और इनमें मनुष्य के विश्वास रुपांतरित हो जाते है, जब पैदावार के तरीके और संबंध ही नही , बल्कि मनुष्य की समग्र सामाजिक गतिविधियों में फर्क आ जाता है। इसलिये मिथको, को इसके आर्थिक सांस्कृतिक चरित्र के कारण समग्रता में समझना चाहिए– सामाजिक संबंधों और मानवीय अंतक्रियाओं की समग्रता में।

मार्क्स ने खुद स्पष्ट कर दिया था कि वह इतिहास का कोई सामान्य सिद्धांत नही दे रहा है, बल्कि एक भौतिक पद्धतिशास्त्र स्पष्ट कर रहा है, जिसका इस्तेमाल खास और ठोस एतिहासिक मामलों में ही हो सकता है (मार्क्स टूट ओटेचेस्टिवेनिया जैपिस्की ,1877– मार्क्स एंड एंगेल्स ,1955, पृष्ठ 312–313) उसने सुझाव दिया था कि किसी सामाजिक रचना को परिचालित करने वाले नियमों की खोज काफी धैर्य के साथ होनी चाहिए और और ठोस प्रमाणों का सूक्ष्म कैज्ञानिक अध्ययन करके होनी चाहिए , किसी पूर्वनिर्धारित योजना को प्रक्षेपित करके नही । तभी किसी व्यापार की असलियत का पता चल सकता है। उसने अपनी इतिहास की अवधारणा को 'गाइड' कहा 'लीवर' नही। और घोषणा की गयी –"समूचे' इतिहास का ताजा अध्ययन होना जरुरी है। समाज की विभिन्न बनावटों के अस्तित्व की दशाओं का वैयक्तिक स्तर पर परीक्षण जरुरी है, इससे पहले कि उससे राजनैतिक ,नागरिक विधानपरक , सौन्दर्यात्मक, दार्शनिक ,धार्मिक , आदि संबंधित विचारों को निरुपित करने की चेष्टा हो (एंगेल्स टू शेमिट, 1890–मार्क्स एंड एंगेल्स,1955 पृष्ठ 416) ।" आदिम लोगों के वर्गविहीन समाज के बाद वर्गीय प्रभुत्व का चरित्र जैसे –जैसे बदलता गया, गुलामी ,सामंतवाद ,पूंजीवाद एक के बाद एक आते गये। मार्क्स ने इस पर जोर दिया कि समाज के एतिहासिक विकास को समझने के लिए यांत्रिक पद्धति अनुपयोगी है।

क्योंकि विकास का सामान्य नियम मिलते हुए भी हर समाज की बनाबट अलग–अलग है और उसमें सामाजिक शक्तियों का अभ्युदय और विभिन्न संकल्पनाओं का विकास भिन्न–भिन्न रुचि में हुआ है।

आधुनिक दुनिया की एक ऐसी आर्थिक स्थिति में हम लोग जी रहे है, तब तेजी से विकसित हो रही प्रोद्योगिकी और एक प्रायः स्थिर वर्ग संरचना के बीच टकराहट है। समाज के पुरानी व्यवस्था के कई स्वरुप अब तक जीवित है, और विकास की आधुनिक पद्धतियां भी सामने है। मनुष्य की जिदंगी पहले से ज्यादा जटिल है। उत्पादन की क्षमता पहले से ज्याद बढ़ गयी है किन्तु मौजूदा समाज की वर्ग संरचना में उत्पादन करने वाली शक्तियों के जीवन में पूर्वापेक्षा अधिक विलगाव है। नतीजतन वर्गसंघर्ष का क्षेत्र भीतर तक फैलता जा रहा है। ध्रुवीकरण और टूटफूट दोनों तरह की प्रक्रियाएं जारी है। अतीत में सामंत जमीदारों का पतन हो चुका था, पर वे नये रुप में समाज में स्थान बना चुके है। पूंजीपति वर्ग ने श्रमिक वर्ग के नेतृत्व के आंदोलनात्मक कौशलों से परिचित होकर अपने संकट से उबरने की चेष्टा कर रहा है। दूसरी तरफ मजदूरी किसान और साधारण मध्य वर्ग के लोग हर रोज नया संकट झोल रहे है, और अपनी पंक्ति बांध रहे है। समाज का ढांचा जर्जरित हो गया है, पर टूट नहीं रहा। इसे तोड़ने के लिए संघर्ष तेज ही गये है और ऐसा नही है कि शोषित मनुष्य जाति अपने बिलगांव से उबर पाने के लिए कहीं से भी कम

आश्वश्त है अथवा वह अपने इतिहास को पूरी ताकत से नया मोड़ देने के लिए कम बेचैन है। उसका विश्वास है कि एक दिन वर्गहीन व्यवस्था कायम होगी। और अखंडित मनुष्यता की रण भेरी बजेगी । संधर्षरत मानव जीवन के मिथक अब उस नये जन विश्वास के ताप में कुम्हार के ताजा बर्तनों की तरह बन और पक रहे है। पुराने मिथक एक–एक कर टूट रहे है यह अपनी परम्परा से नये प्रकार से जुडने और जननीवन के यथार्थ को यही कोण से पहचानने की भूमिका है।

वस्तुवादी दृष्टिकोण ने मिथक की रहस्यमयता को तीखी चुनौती दी है जिसके परिणामस्वरुप मिथक के प्रति एक बौद्धिक वैज्ञानिक समझदारी का विकास हुआ। मिथकों की पौराणिक व्याख्या ने सांस्कृतिक इतिहास को धुंधला करके वस्तुतः उससे हमें काट सा दिया था। मिथक की आधुनिक व्याख्या लोगों को उनकी परम्परा के बारे में फिर से बतला रही है। इस नयी समझदारी का धरातल आध यात्मिक न होकर , वस्तुवादी है। मिथक के विकास की सांस्कृतिक स्तर परव्यक्त वर्गीय अंर्तविरोधियों के एतिहासिक विकास के रुप में समझ हमारे सोच के पूरे परिप्रेक्ष्य को बदल देती है, और उसे न केवल यथार्थपरक बना देती, बल्कि कला के एक नये स्तर से भी जोड़ती है।[28]

---

28. साहित्य और मिथक –गौरीनाथ नौटियाल–पृ0–87

(ग) मिथक और मनस्तत्व –

मिथक को सांस्कृतिक अचेतन की जटिल भाषा कहा गया है।[29] बीसवीं सदीं की शुरुआत से मनोवैज्ञानिक ने इसका गंभीर अध्ययन उपस्थित करना आरम्भ कर दिया था। कुछ ने इस अध्ययन को समाज और इतिहास से जोड़ने की चेष्टा की थी, कुछ ने इसे मानवीय अवचेतन की कियाशीलता के रुप में विवेचित किया था। अचेतन की जटिल भाषा और चेतन यंत्रों की स्वाभाविक पूर्वधारणाओं के कारण मिथक के विश्लेषण में अंर्तविरोध भी उपस्थित हुए थे। कई मनोवैज्ञानिकों को अपनी धारणाओं में बार –बार परिवर्तन करना पडा था। इन्होने सबसे कम सोचा था कि व्यक्ति के मस्तिष्क का अध्ययन निरपेक्ष ढंग से करने पर गलत निष्कर्ष निकलेगें फिर भी मनोविज्ञान में आद्यरुप ,स्वप्न एवं फंतासी के संदर्भ में मिथक की विस्तृत चर्चा हुई। ,फ्रायड ,युग, एरिक फ्राम , आटोरेंक इत्यादि मनोविश्लेषकों की एक लम्बी परम्परा है, ज़िन्होने एक भिन्न पद्धति से मिथक पर बहस को उत्तेजक बनाया।

प्रारम्भ में अचेतन दमित एवं विस्मृत भावनाओं के केन्द्र के रुप में स्वीकृत था। फ्रायड ने अपने अध्ययन के क्रम में उसको स्वीकार किया था, साथ ही उसे व्यक्ति की प्रकृति के साथ संबंद्ध कर, स्वप्न एवं दमित कामभावना का संपर्क स्थापित किया था। उसने नैसर्गिक प्रवृत्ति को "इड" से तथा सामूहिक चेतना को नैतिक मन

---

29. मिथकीय परिप्रेक्ष्य और साहित्य –मृदुला सेन–पृ0–8

(सुपर ईगो) से संबंद्ध कर अपनी पूर्व मान्यता का खंडन भी किया था। उसके अनुसार "दानव " उस अचेतन का प्रतीक है , जिसमें प्रवृत्यात्मक जीवन की दमित भावनायें रहती है। कोई भी संघर्षशील नायक "कामनापूर्ति " का प्रतीक होता है। जिजीविषा (इरोस) तथा मरणाकांक्षा (थेनेटस) होती है। 'थेब्स' के राजा 'ईदीपस' के मिथक के संदर्भ में फ्रायड ने अपनी प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मान्यता की स्थापना की थी। ईदीपस ने अपने पिता की हत्या करके अपनी माता जोकास्ता से शादी कर ली थी। उसने मिथक की व्याख्या कलात्मक स्तर पर की । उसकी यह व्याख्या व्यक्तिवादी थी। उसने मिथक को मानवीय प्रकृति का हिस्सा माना था । उसने मानसिकता के तीन खण्ड किये थे –(1) चेतन, (2) अचेतन, (3) अवचेतन। फ्रायड का ध्यान अचेतन पर ही केंद्रित था, जिसे हम अचेतन का व्यक्तिगत रुप कह सकते है, किन्तु कार्ल युग ने अचेतन के दो रुप बतलाये–

(क) व्यक्तिगत अचेतन।

(ख) सामूहिक अचेतन।

व्यक्तिगत अचेतन का संबंध उन भावात्मक जटिलताओं से है, जो व्यक्तित्व से आबद्ध रहती है। उससे भी गहरे जहां सम्पूर्ण समाज का सांस्कृतिक अचेतन विद्यमान रहता है, उसे सामूहिक अचेतन कहते है।

मनोविज्ञान के मिथकों को नया जीवन दिया है, मानसिक

जीवन की गहराई में प्रवेश करने का प्रयास मनोविज्ञान द्वारा जितना अधिक होता है, यह प्रयास पुराकथाओं की व्याख्या की ओर ले जाता है। मनोवैज्ञानिक आलोचक मिथक को अज्ञात मन की प्रतीकात्मक भाषा से जोड़कर कहते हैं कि मिथको में मनुष्य के चिरस्थाई भावो, आकांक्षाओं तथा कार्य पद्धतियों का प्रकाशन होता है। इनका अध्ययन मानव प्रकृति का अध्ययन है। वस्तुतः मन में वे ही आद्यबिंब विद्यमान रहते है, जो पौराणिक कथाओं में होते है। इनमें कुछ नैसर्गिक होते है, कुछ दमित इच्छाओं के प्रतीक। मिथक के मनोवैज्ञानिक आलोचको की कमजोरी है कि वे आद्य बिम्बों के आंतरिक भावात्मक संसार की ही उद्घोषणा करके रह जाते है। वे नही मानते की इनकी रचना बाहरी वस्तुजगत के प्रत्याक्षीकरण से हुई है। इसलिए वे मानव मस्तिष्क की विवेचना वस्तुसत्ता के इतिहास के विकासवादी क्रम में रखकर नही कर पाते। बाह्य वस्तुजगत मानवीय चेतना को आकार प्रदान करने की सीमा तक प्रभावित करता है । बाह्य सत्ता का संघर्ष मानवीय चेतना के विकास से गहरा संबंध है। मिथक अंर्तबाह्य दोनों के सामंजस्य से विकसित होता है तथा बाह्य वस्तुजगत की संवेदनात्मक पहचान से जुड़ा होता है।

"रामायण " का उदाहरण लें। इसके पात्रों में मानसिकता तथा सामाजिक अवस्थाओं का सामूहिक प्रतिनिधित्व मिलता हे। राम आदर्श तथा उत्कृष्टता से संयुक्त नैतिक मन के प्रतीक है। जीवन के

प्रति उनकी दृष्टि से सांस्कृतिक अचेतन की धार्मिक छाया मिलती है। रावण असद्वृत्तियों तथा काली छायाओं की मूर्ति है। वह सामूहिक अचेतन के दानव का आद्यरुप का भंजन करते है तथा इरोस से समन्वित नैतिक मन विजयी हो जाता है। इन पात्रों की पृष्ठभूमि में व्यक्तिगत अनुभव नही है, बल्कि एक सांस्कृतिक इतिहास चेतना है। मेड़ा के मिथक में प्रति प्रेम की एकछत्र अधिकारिणी बनने के लिये मेड़ा परिवार में बच्चों का जन्म नही होने देती । यह स्त्री के एकांतिक अधिकार की प्रकृत इच्छा का परिणाम है। मनु मां बनने वाली श्रृद्धा तथा मृगशावक से चुनौती पाता है। मेड़ा का मिथक मां का पुत्र के साथ कमाचार से संबंधित है। एरिक फ्राम ने 'ईदिपस' और 'जोकस्टा' के काम सम्बन्ध की नई व्याख्या प्रस्तुत की कि यह पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था में पुत्र द्वारा मातृशक्ति की स्थापना के लिए पिता से विद्रोह है। पिता से लड़ने का अर्थ अधिकारों को माता के हाथ में ला देना है। 'रामायण' में लव–कुश द्वारा राम से विद्रोह के पीछे मातृसत्तात्मक व्यवस्था की ही भूमिका है। एक जगह गणेश भी पार्वती के लिए शिव से युद्ध करते है। शिव ने अपने त्रिनेत्र से मदन को भस्मितभूत कर दिया, इससे नैतिक मन की प्रभुता व्यक्त होती है। ईव बाग से सेब लेने की तृष्णा न रोक सकी यह स्वाभाविक मानवीय दुर्बलता ही आदम की सजा का कारण है। मिथक के पात्र अगर काल्पनिक भी हो ,तो उसमें सांस्कृतिक अचेतन के आद्यबिंब होते है,

किन्तु मनस्तात्विक रुढियों को मिथकीय संकेत नही माना जा सकता। अकेलेपन तथा अतृप्ति के विरुद्ध फंतासी का प्रयोग अपने भीतर की भावनाओं को बेहतर ढंग से प्रस्तुत करने के लिए होता है। "मानो", 'जैसे कि यह है' आदि जैसी संकेतात्मक अभिव्यक्ति में फंतासी की चित्रात्मकता उभरती है। इसके चित्रों को सहज संप्रेष्य बनाने में कवि की सृजनात्मक शक्ति की पहचान झलकती है। बींसवी शताब्दी के बहुत से कवियों ने अपने आदर्श ,उद्देश्य अथवा किसी अतृप्त की पीड़ा को संप्रेषित काने के लिए फंतासी की जटिल शैली का उपयोग किया है। फंतासी रचनाकार के दर्द का, जो अकेलेपन अथवा अतृप्ति को लेकर है। विवेचना करती है। फ्रायड ने "द रिलेशन ऑफ द पोयट टु डे ड्रीम " में लिखा है कि "अतृप्त कामनाएं फंतासी की मूल पृष्ठभूमि है। स्वप्न एवं फंतासी में इस स्तर पर समानता है।" फ्रायड ने यह नही बतलाया कि अतृप्त कामनाएं व्यक्ति को यथार्थ जगत से जोड़ने में किस प्रकार सहायक होती है, वे पदार्थ को झेलने का कितना साहस देती है। यह सही है कि तृप्त व्यक्ति कभी दिवास्वप्न नही देखता तथा अविकसित समाज व्यवस्था में दिवास्वप्न भी ऊर्जा प्रदान करने वाला एक तत्व है। किन्तु इसकी सार्थकता तभी है जब समाज इसे व्यक्ति के भीतर से देखता है। इसका व्यापक महत्व इस बात में निहित है कि किस प्रकार वह कल्पनात्मक क्षमता द्वारा व्यक्ति के निरपेक्ष सोच विचार से निकलकर अपने भीतर सामाजिक यथार्थ को पाता है।[30]

---

30. पाश्चात्य मनः सिद्धांत—शशिमुदिराज—पृ0—33

फंतासी को अपनी कलात्मक रचना में प्रस्तुत करते समय कवि प्रकारांतर से अपनी उन उद्देश्यगत भावनाओं को प्रकट करता है। जिनका बार–बार सामाजिक दमन हुआ है। कवि जो होते देखना चाहता है, उसकी आदर्श सत्ता दिवास्वप्न अथवा फंतासी में उपस्थित होती है। अतः फंतासी का प्रयोग वह रचना–शैली के रुप में करता है। यथार्थ की अपनी आगामी संभावनाओं के रुप में फंतासी रचनाकार के वस्तुगत उद्देश्यों तथा सामाजिक कल्पनाशीलता को व्यक्त करती है। फंतासी में आकर भाषा को काफी टूट–गल जाना पड़ता है, तब जाकर सामाजिक संघर्षो के अनुभवलोक से जीवन यथार्थ को उदघाटित करने वाला दिवास्वप्न मिलता है। यह फंतासी के व्यक्तिवादी रुप से भिन्न होता। फंतासी मिथक नही होती है, व्यक्तिबद्धता के परिवृत्त से मुक्त होने के बाद इसमें मिथकीय संकेतों का उभारना शुरु हो जाता है। किसी भी सांमवादी पूंजीवादी समाज में प्रतिगामी मूल्य दृष्टियों को वहन करने वाले जीवन दर्श होते है। तो इनके विरुद्ध संघर्षशील सामाजिक शक्ति से सम्पन्न दिवास्वप्न भी मिलते है, बल्कि कहना चाहिए ,इन्हीं सामाजिक दिवास्वप्नों से (अर्थात ऐसी सृजनशील सांस्कृतिक इच्छाओं से जिन्हें एक समाज अपने प्रगतिशील मन में पैदा करता है)। लड़ने की ताकत मिलती है। फंतासी की प्रक्रिया से कलाकार का सामाजिक यथार्थ संवेदनात्मक अनुभूति की गहराई एवं चिन्तन के शिखर तक पहुंचता है। निःसंदेह यह रचना की आंतरिक

घटना है, जिससे नयी संभावनाएं उजागर होती है। यह आंतरिक घटना है अगर बाहरी वस्तु जगत से लगातार संपर्क में रहती है, तो नयी सम्भावनाएं अमूर्तन न होकर ठोस या यथार्थवादी होती है।

वैयक्तिक फंतासी का एक एक अच्छा उदाहरण प्रख्यात इतालवी चित्रकार लियोनार्दो द विन्सी का है। वह अपने जीवन के उत्तरार्ध में मानने लगा था कि उसकी अपनी दो माताएं है। उत्पन्न होने के दो स्त्रोंतो अथवा दो माताओं की फंतासी का प्रभाव उसकी परवर्ती समस्त चित्रकला पर पड़ा। सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी के फ्रांस एवं जर्मनी में फंतासी को एक ऐसी कला माध्यम के रुप में स्वीकार किया गया , जिससे संगीतज्ञ अपनी कामनाओं को व्यापक स्तर पर लयात्मक ध्वनियों में संप्रेषित करता था। इनका स्वरुप वैयक्तिक होता था। आधुनिक मनः सौन्दर्यवादी आलोचक फंतासी को एक कलात्मक रचना–शैली के साथ मानवीय भावना का एक स्वतंत्र पद्धति के रुप में भी देखते है और उसका रुपवादी स्तर विकसित करते है। फंतासी एक कलारूप है, किन्तु सामाजिकता से ऐतिहासिक स्तर सोचने का विशिष्ट स्तर है। यह अवचेतन को स्पर्श करता हुआ भी मानवीय चेतना की खुली आंखों में पलता है। कवि फंतासी के सौन्दर्य को मानवीय बोध का स्वरुप प्रदान करते हुए अपनी ज्ञानात्मक संवेदना से ग्रहण करता है। गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में कविता–रचना–प्रक्रिया के एक आवश्यक अंग के रुप में

फंतासी के सबंध में कहा है, "जो फेंटेसी अनुभव की वयक्तिगत पीड़ा से पृथक होकर अर्थात उससे तटस्थ होकर अनुभव के भीतर की ही संवेदनाओं द्वारा उत्सर्जित और प्रक्षेपित होगी, वह एक अर्थ में वैयक्तिक होते हुए भी दूसरे अर्थ में नितांत निर्वैयक्तिक। उस फैंटेसी में अब एक भावात्मक उद्‌देश्य की संगीत आ जायेगी। .... फैंटेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतंत्र विकासमान व्यक्तित्व है।" कला में फंतासी की सृजनात्मक भूमिका होती है, अगर यह कथ्य को धुंधलाने का काम न करे।

फंतासी का स्वरुप वैयक्तिक को अथवा सामाजिक चेतना से संस्पर्शित, उसके प्रतीकात्मक एवं संकेतात्मक अभिधान में कल्पना का विशिष्ट योग रहता है। फंतासी और कल्पना मिलकर सृजनशील काव्यात्मक अनुभूति का विस्तार करती है। कवि की कल्पना फंतासी की वैयक्तिक जटिलता को नियंत्रित करने में जितनी सफल होती है, वह जीवन के ठोस प्रसंगों की ओर उसे अभिमुख करके उतनी ही कुशलता से व्यापक लोकचेतना का आधार सौंप देती है। उसकी पृष्ठभूमि में वैयक्तिक अतृप्ति के स्थान पर सामाजिक असंतोष की व्यापक भूमिका होती है। मानवीय संज्ञात्मक क्षमता के रुप में फंतासी व्यक्ति को आंतरिक चेतना का विकास कर सकती है एवं मानसिक प्रक्रिया के माध्यम से बाहरी सामाजिक दुनिया को पचा भी सकती है। उसकी समझ के विकास के लिए फंतासी एक बेहतर माध्यम हो

सकती है। इसलिए कविता में फंतासी एवं काल्पनिक का एक सामाजिक प्रायोजन है। मिथकीय संवेदना फंतासी के सामाजिक स्वरुप में विद्यमान रहती है किन्तु व्यक्तिवादी फंतासी मिथक नही होती।[31]

31. फंतासी और मिथक—डॉ0 रत्नदिवाकर—पृ0—31

(घ) भाषा और मिथक –

भाषा और मिथक का स्त्रोत एक है– जन समाज। भाषा के अस्तित्व ग्रहण करने की प्रक्रिया में मिथक भी बने। आदिम अवस्था में मानवीय जरुरतों एवं तकलीफों को व्यक्त करने वाली ऊबड़–खाबड़ ध्वनियां निश्चित अर्थ व्यवस्था से जुड़कर शब्दों में परिवर्तित हो गयी।[32] उस युग की मिथकीय संवेदना इन शब्दों से भिन्न न थी । ये शब्द आदिम संस्कृति से भिन्न थे मनुष्य के अलावा दूसरे जीवों के संसार में संबंधों की यथास्थिति थी और उनमें पारस्परिक विनिमय का विवेक नही था। इसलिए जानवरों के लिए भाषा कोई जरुरत नही नही बनी। भाषा मनुष्यों के अस्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए थीं। इसी रुप में वे सामाजिक राजनैतिक परिवर्तन की प्रक्रिया में विकसित होती गयी। एक सृजनात्मक शक्ति के रुप में मिथक तब भाषा से अलग नहीं था, क्योंकि यथार्थ का स्वरुप मिथकीय था। आरंभ से ही मिथक सामूहिक अभिव्यक्ति के आस्थाशील माध्यम के स्तर पर भाषिक संरचना का एक बडा हिस्सा था। वह भाषा का रिश्ता अगर इस अस्तित्व तो मिथ्का इसके सांस्कृतिक संकट से । भाषा के बिना मनुष्य अपने अस्तित्व को व्यक्त नहीं कर सकता । अतः भाषा की समस्या मनुष्य के अस्तित्व की और मिथक की इस अस्तित्व के अर्थ की है।

पहले मिथक का अध्ययन भाषा विज्ञान और काव्याशास्त्र

---

32. मिथक और आधुनिक कविता–शंभुनाथ–पृ0–42

के क्षेत्र तक सीमित था। भाषिक संरचना का विकास क्यों और किन परिस्थितियों के दवाब से होता है, इसका उत्तर न भाषा वैज्ञानिकों या वैयाकरणों के पास था न साहित्यिक आचार्यो के पास। भारत में भाषा को अपने आप मे एक समग्र दर्शन का दर्जा पाणिनी से लेकर रीतिकालीन आचार्यो और रामचंद्र शुक्ल तक के किसी के काल में न मिल सका। राजनैतिक आजादी के बाद सोचा समझा जाने लगा कि भाषा का एक दर्शन है, जो राष्ट्रीय सामाजिक आधार पर विकसित होता है। इतिहास के बारे में हमारा कोई दर्शन नहीं था और यह अधि ाकतर वैसा ही लिखा जा रहा था, जैसा अंग्रेजी शासक वर्ग चाहता था। हमारा मुल्क राजनैतिक बेडियों से मुक्त होकर सांस्कृतिक आर्थिक मुक्ति संघर्ष के लिए उद्वेलित होने लगा तो समाज, इतिहास और भाषा के अंर्तसंबंधित दर्शन की स्थापना की बात भी उठने लगी। बौद्धिक जगत में अब भारतीय मिथकों की धार्मिक अंधविश्वासपूर्ण या सांप्रदायिक विवेचना पीछे छूटती जा रही है। इसके स्थान पर वैदिक अथवा पौराणिक कथाओं के राजनैतिक आर्थिक आधार को एतिहासिक दृष्टि से समझने की भूख बढ़ रही है। देवी, देवताओं, टोटम ,प्रतीक पुरुष ,नायक ,सांस्कृतिक नेता ,आद्यरुप आदि के सामाजिक और भाषिक रुप की विवेचना नये सिरे से जोर पकड़ रही है। भारतीय मनुष्य के अस्तित्व और इसकी भाषा के वास्तविक विकास के बारे में लम्बे काल तक हम लोग बहुत अनजान रहे। अब इस पर काफी

सामग्रियां प्रकाश में आ रही है कि हमारी जाति का गठन किन सांस्कृतिक और आर्थिक तत्वों के मेल से हुआ , इसके राजनैतिक बदलाव के ऐतिहासिक मोड़ कौन से है, मानवीय विश्वासों की सामाजिक धुरी क्या है और हमारी भाषा का विकास सामाजिक तंत्र में किन–किन बदलावों के परिणामस्वरुप हुआ।

ऋग्वेद में वाक व्यापार को सृष्टि का पर्याय माना गया था और वाक् के ही विभिन्न स्तरों के रुप में द्युलोक, अंतरिक्ष और पृथ्वी की कल्पना की गयी थी। पृथ्वी आकाश के संसर्ग से देवताओं का जन्म माना गया था। वैदिक देवताओं वस्तुतः भाषिक रुप ही थे। अग्नि आग है और एक देवता भी। प्रकृति के अतिमानवीयकरण से वैदिक मिथकशास्त्र निर्मित हुआ। वैदिक मिथकों में तद्युगीन मनुष्यों का अनुभूत यथार्थ प्रकट हुआ था। ऊपर से कोई भी मिथक अर्थविहीन होता है–एब्सर्ड, किन्तु जिस भाषा मे मनुष्यों ने एतिहासिक रुप से अपनी सामाजिक संचेतनता को व्यक्त किया है – अपने जीवन में मिलने वाली चुनौतियों को जवाब दिया , वह पूरी की पूरी संरचना पद्धति अर्थहीन न थी । अवेस्तन और वैदिक मंत्रों में बहुत सी समानताएं प्रमाणित करती है की एक पूरे बेल्ट में एक स्तर का मानवीय जीवन समान लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था और वह लक्ष्य था कृषि सभ्यता के विकास का । इसलिए उस युग की भाषा में इस सभ्यता से जुड़े शब्द प्रतीक अधिक शामिल हुए।[33]

---

33. साहित्य और संस्कृति –डॉ० अजय कुमार–पृ०–48

पूर्व वैदिक काल में मिथक, भाषा, धर्म एवं अर्थतत्व में अद्भुत एकरुपता थी, आदिम साम्यवादी सामाजिक दशाओं के कारण । ये दशाएं खत्म होने लगी, तो उपरोक्त चीजों में भी फर्क आना शुरु हुआ। हम जानते है कि वैदिक भाषा काफी उन्नत थी, और वह एक दिन में इतनी उन्नत नही हुई होगी। इसके व्याकरण और विषयवस्तु का स्वरुप जब आत्मवादी होने लगा और पाणिनी के युग तक घनघोर आध्यात्मवादी हो गया, भौतिक जगत से इसका संबंध ढीला पड़ने लगा।भाषा परोक्ष अर्थ की सम्प्रदायिक अभिव्यक्ति बन गयी। छंदस के परोक्षवादी तर्क से राजा में ईश्वर का अंश घुस गया। अर्थ की प्रत्यक्ष सत्ता को अध्यात्मवादी दार्शनिक कहना चाहिए। जैमिनी उपनिषद में भाषा को मन की नहर माना गया। भतृहरि ने कहा किं "भौतिक घटना कम के द्वारा ध्वनि उत्पत्ति अवास्तविक या असत्य है, दूसरी ओर नाना विकल्पग्रस्त बाह्य अर्थवितान भी परमार्थिक दृष्टि से अवास्तविक है।" इस तरह के विचार भाषा को सामाजिक यथार्थ से विमुख करने और सामंती सौन्दर्य—बोध की पृष्ठ भूमि तैयार करने में सहायक थे। फिर भी पाणिनी की एक भूमिका स्वीकारनी होगी कि व्याकरण के माध्यम से जातीय बिखराव को रोकने और राष्ट्रीयता की चेतना फैलाने में उसने एक अनुशासनात्मक भूमिका निभायी ।

आश्चर्य नहीं करना चाहिए अगर भाषा को सामाजिक यथार्थ का गाइड कहने वाला एडवर्ड सैपिर सामंती हिन्दू बौद्धिकता

के सिद्धांतकर्ता पाणिनी की प्रशंसा करता है। इसके अनुसार भाषा भावों एवं संवेदना की प्रकृति का निर्धारण करती है। उसका तर्क है कि एक ही यथार्थ को प्रस्तुत करती दो भाषाएं परस्पर भिन्न प्रभावों और अवस्थाओं पर आधारित होगी। एक ही दुनिया में रहने वाले अलग–अलग भाषाओं के समाज के लिए यह दुनिया समान नही है सैपिर ने समझना चाहा कि सामाजिक यथार्थ भाषा की संरचना को किस प्रकार प्रभावित न करके कैसे भाषा सामाजिक यथार्थ को 'कंडीशंड' करती है। उससे पहले बाहोस की पुस्तक 'हैंडबुक ऑफ अमेरिकन इंड़ियन लैग्वेज' में यह उक्ति मिलती है कि भाषा की खोज मनुष्य एवं उसकी दुनिया की खोज भाषा विचारों अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र नही है, बल्कि वह विचारों के स्वरुप की रचना भी करती है। यहां तक कि भाषा मनुष्य के कार्यक्रम का निर्धारण करने वाली और उसकी पथनिर्देशक है। बींसवी शताब्दी के आरम्भ का यह भाषादर्शन अद्‌भुत है, जिसमें यह दावा किया गया है कि मनुष्यों में अगर संस्कार ,रुचि तथा सभ्यता के स्तर पर फर्क हैं। तो यह भाषा का फर्क है ,कोई भी गहन चिन्तन संभव नही है, अगर भाषा में ऐसा चिन्तन प्रस्तुत करने की सामर्थ्य नही है। वस्तुतः भाषा का पिछड़ापन समाज के पिछड़ेपन की प्रतिध्वनि है। आज से साठ सत्तर वर्ष पूर्व के हिन्दी साहित्य के स्तर में इतना अंतर था। अथवा भोजपुरी में नयी कविता की संवेदना व्यक्त नही हो सकती , ऐसा कहना भाषा के

विकास की नजरंदाज करना और उसे सामाजिक परिप्रेक्ष्य से काटकर देखना है। अपने समाज की जरुरतों को देखकर ही भारतेन्दु ने हिन्दी को नया रंगरुप देना प्रारम्भ किया था । भाषा के उन्नत या पिछड़े होने की वजह से कोई फर्क आता है —यह एक अधूरा कथन है। भाषा में पदार्थ भी होता है और दोनों मिलकर मनुष्य के भावों और विचारों का वस्तुगत ढांचा तैयार करते है, उसके व्यवहारों को रुप देते है। पदार्थ मिथक में भी रहता है, जो एक भाषिक संरचना में प्रस्तुत होता है। पदार्थ की अभिव्यक्ति के लिए ही भाषा को मिथक की संरचना की आवश्यकता पडती है, क्योंकि इसके बिना भाषा जीवन के अर्थो अथवा समाज की जरुरतों को व्यक्त नही कर पाती।

श्रमिक वर्ग अपने हाथों दुनिया की सुन्दरता का उपभोग नही कर पाता। अज्ञेय ने प्रकृति के प्रति रोमानी रुझान के साथ कभी हरी घास पर क्षण पर बैठकर महानगर की सभ्यता से विमुखता प्रदर्शित की थी। उनकी हरी घास का अपना मिथकीय संकेत था। वह सिर्फ घास नही, एक मनोभूमि की भी बात थी। रमेश रंजक के निम्नांकित गीत अंश में हरी घास प्रकृति और मनुष्य द्वारा मिलकर रची उस सुंदर चीज का नाम है, जिसके साथ रहकर भी माली बिलगांव का अनुभव करता है, "हरी घास", 'तरह–तरह के फूल' और "उद्यान" निम्नांकित कविता की भाषा की मिथकीय संरचना के कारण सिर्फ घास, फूल और 'उद्यान' नही रह जाते, श्रमिक वर्ग के सुन्दर

उत्पादनों के संकेतक बन जाते है। ये मानवीय श्रम की व्यथा को उभारते है। बिना मिथकीय संरचना के भाषा अपनी सृजनात्मकता का इस्तेमाल नही कर पाती और वह बात भी नही उभर पाती, जो कवि कहना चाहता है। इस मिथकीय संरचना में कोई ऐंद्रजलिका कथात्मकता नही है, फिर भी मिथकीय तत्व तो है, अन्यथा "हरी घास पर कभी न बैठे फुरसत पाकर' क्या है उस मिथक के सिवाय, जो कवि के संवेदनात्मक कथ्य को मार्मिक बना देता है। गीत का अंश इस प्रकार है–

हरी घास के लॉन उगाये
बड़े–बड़े उद्यान बनाये
हैज काटकर कंधों ऊंचे
तरह–तरह के फूल खिलाये
रोटी आधी
भूख बुझाई
भूख बुझाकर कभी न बैठे हरी घास पर
हरी घास पर कभी न बैठे फुरसत पाकर
हरी घास पर[34]

भाषा खुद भी पुरानी मिथकीय पद्धति के भीतर रुंध जाती है। अभिव्यक्ति के कई स्वरुपों में इस कारण पतन हो जाता है कि उनका कई बार व्यवहार हो चुका होता है कई उनकी अभिव्यंजना

---

34. हरी घास –रमेश रंजन पृ0–14

शक्ति चूरकर रुढ़ हो गयी रहती है। सृजनशील भाषा ऐसे अभिव्यक्ति रुपों को स्वतः छॉट देती है। वह नये यथार्थ तथा इसके अनुभवों को लेकर अपना विकास करती है। यह भाषा की आधारभूत प्रकृति है कि वह सामाजिक यथार्थ के परिवर्तन से अपना एक सामंजस्य स्थापित करके चलती रहे। इसलिए यह मानवीय अस्तित्व की स्वीकृति का सबसे बडा जरिया और मनुष्य की अपनी बिल्कुल अलग पहचान में सबसे बडी बाधा है।

भाषा की सृजनात्मक शक्तियों का मिथकीय संरचना से क्या संबंध है और यह संबंध द्धंद्वात्मक कम में किस प्रकार बदलता है, इसकी विवेचना कविसमय, कल्पनालोक, रूपक, बिंब, प्रतीक और संकेत के संदर्भ में की जानी चाहिए।

कविसमय और मिथक –

काव्यशास्त्र की परम्परा के अनुसार कवियों का अपना सच ही कविसमय होता है। प्रचलित सामान्य अर्थ का विरोधी अर्थ स्वीकार कर लेना तथा देश काल की निरपेक्षता में इसकी परम्परा को अक्षुण्ण रखना ही कविसमय यथार्थ के विरोधी होते है। तथा साधारण जिदंगी में घटित नही होते। कविता की रोचकता बढ़ाने के लिये कवि ने घटने वाली उक्तियों का प्रयोग करते है। वामन ने अपने अलंकारसूत्र में काव्य समय का उल्लेख किया है (5—1)। कवियों के इस सच को रसज्ञ निर्दोष मानकर स्वीकार कर लेते है। कविसमय का एक रुपकात्मक अर्थ भी होता है। चकोर चंद्र —ज्योत्सना का पान करते है। यह एक कविसमय है। अमरकोष के टीकाकार क्षेमस्वामी ने बतलाया है कि 'चकोर चंद्रिका से तृप्त होते है।'(अमर 5—35 टी0)। चंद्रिका—पान वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति का रुपकात्मक संकेत है। मिथक में भी रुपकात्मकता संस्कृति की गतिशीलता के कारण परिवर्तनशील होती है, जबकि कवि समय रुढ़ियां बन जाते है। इनमें अर्थ के विकास की संभावना नही रहती। इस प्रकार कविसमय का प्रयोग मध्यकालीन मिथक काव्य में तो हुआ किन्तु आधुनिक मिथक कविता में इसे महत्व नही दिया गया।

कल्पलोक और मिथक –

आधुनिक नाटककार यूजिन आयनेस्को ने अपने एक नाटक के बारें में लिखा है कि इस नाटक में जिस समाज का चित्रण हुआ है, वह एक समग्र समाज है। ऐसा समाज समस्याविहीन होता है। यह नाटक एक ऐसे समय के बारें में बतलाता है, जहां आर्थिक चिंताए अतीत की वस्तु हो गयी हों और सारी चीजें अपनी प्रकृत गति से चल रही हों। प्रसाद की 'कामायनी' और प्रेमचन्द्र के 'प्रेमाश्रय' के आखिरी हिस्से ऐसी ही कल्पनालोकात्मक (यूरोपियन) कथा कहते है। कल्पलोक आदर्शवादी मानवता की समग्र अवस्था की ओर संकेत देता है। कल्पलोक और यथार्थ परस्पर विरोधी हैं, क्योंकि कल्पलोक आदर्शवादी अतिकाल्पनिकता की एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसका यथार्थजगत से रिश्ता टूट जाता है। किन्तु रोमानी या आधुनिकतावादी साहित्यकारों ने कल्पलोक को यथार्थविरोधी न कहकर रचनाकार का अपनी तरह से खोजकर पायी हुई सबकी यथार्थ आकांक्षा माना। कल्पलोक यथार्थजगत की कुरूपताओं को विस्थापित करने की एक सोच है, कोई रूमानी कलाकार अपनी सृजनात्मक कल्पना के सहारे अगर मनुष्य समाज का चित्र उसकी संपूर्णता में अंकित करना चाहता है, आदर्शवादी ऐतिहासिक अन्वितियों से गुजरते हुए उसकी विचार–धारा यूरोपियन होने के लिये बाध्य है। इस प्रकिया में उसकी आदर्शवादी दार्शनिक अवधारणा एक कल्पलोक रचती है, जिसकी

पृष्ठभूमि में रचनाकार की अपनी विचारधारा से पोषित इच्छा रहती ही है, ऐसी दृष्टि भी रहती है जिसके द्वारा कल्पलोक की अंतर्निर्मितियों से मनुष्य अपनी वर्तमान संकटग्रस्त स्थिति को माप सके। कल्पलोक के आदर्शवाद के सामने उसकी अपनी स्थिति भयावह और क्रूर लगने लगे। कल्पलोक की अतिकाल्पनिक दशाओ में मानव जीवन परिपूर्ण और समान होता है। ऐसी दशाओं को स्थापित करके ही महाकाव्य पूरा माना जाता है। मिथक में अक्सर दो विरोधी सिंद्धातो, जीवन पद्धतियों अथवा शक्तियों में संघर्ष मिलता है। इस संघर्ष के मूल में मानव जीवन की कोई समस्या रहती है, जिसके हल के लिए नायक अथवा देवता अपने घर से निकलता है, मार्ग में बाधा–विपत्तियों को झेलता है, शत्रु तक पहुंचकर उसका जीवननाश करता है और अंत में कल्पलोकात्मक स्थिति की रचना करके सर्वत्र सुख–शांति या समृद्धि की स्थापना कर देता है, वह एक यथार्थ से यूरोपिया तक बढ़ जाता है। आदिम और मध्यकालीन समाज के मिथको ने अपनी तरह से विरूद्धों में एकता स्थापित की और जीवन स्थितियों को सुगम बनाया। धर्म और अध्यात्म ने अलग–अलग एतिहासिक अवसरों पर कल्पलोक की विविध संरचनाएं प्रस्तुत की, जिनमें मनुष्य की भावना और व्यवहारों के प्रतीक मिलते है। भक्त कवियों ने अपने युग को पीड़ा के यथार्थ से निकालकर ख़ुश़हाली के अध्यात्मवादी कल्पलोक में पहुंचा दिया। कृष्ण की लीला भूमि या राम के राज्य में पहुंचकर जीवन के

कष्ट मानसिक रूप से समाप्त हो गये। हर तरह की पराधीनता से भावात्मक मोक्ष मिल गया। यह वास्तविक मुक्ति नही थी। यह यथार्थ से भ्रम की ओर अभिगमन था, जिसे मध्यकालीन व्यवस्था की एक विशिष्ट निर्मति कहना चाहिए। अपने जीवन दर्शन दबाव के कारण भक्त न केवल कल्पलोक की रचना करते थे, दिन रात अपने जीवन को उसी में रमाये रहते थे। कहीं कहीं यह पलायनवादी विश्रांति से अधिक समानंतर व्यवस्था रचने, एक भाववादी प्रतिरोध खडा करने की चेष्टा भी थी। आधुनिक समाज में बहुत सी आदर्शवादी विचार–धाराएं यूरोपियन सोच में पीड़ित हो गयी, जबकि सामजिक राजनैतिक अंतर्विरोधों का हल ढूंढ़ने के लिए बुद्धिवादी और वैज्ञानिक दृष्टि उभर चुकी थी। समाज की उन्नत अवस्था का चित्र एतिहासिक प्रक्रिया से विच्छिन्न होकर प्रस्तुत करना ही कल्पलोकात्मक सोच है। यथार्थवादी दृष्टिकोण का अभाव कलाकार को इस सोच की तरफ ले जाता है। मिथक जब से यथार्थवाद के करीब आया 'नये विरूद्धो के युग्म' सामाजिक चेतना के बदलते आधार पर व्यक्त किये गये। छायावाद तक मिथकों का संबन्ध कल्पलोक के साथ आदर्शवादी परंपरा के प्रति भी मोहभंग हो गया। इसका अर्थ कुछ आदर्शो से मोहभंग नहीं है।

कई कथाओं की परिणति दुखात्मक होती है अथवा नायक के भटकाव से जुड़ी होती है। ये कथाएं भिन्न होती है, जिनमे एक साहित्यकार अथवा युग मानव के सुखद भविष्य का स्त्रोत ढूंढ़ता है

अथवा समाज की आकांक्षाओ को प्रतिबिंबित कर जीवन को विजय की ओर ले जाता है। वह कथा भारतीय रसवादी दर्शन की शर्तें पूरी करते हुए सुखांत हो जाती है। अक्सर ऐसी सुखांत कथाएँ जीवन की समस्याओं का सरलीकृत निदान उपस्थित करती है और भ्रामक प्रेरणा देती है। कभी–कभी एक छोटी सी ट्रेजिक कथा जीवन के कुछ यथार्थ को इतने वस्तुवादी ढ़ंग से उपस्थित कर देती है कि वह अधिक सार्थक प्रेरणा का पुंज बन जाती है । कल्पलोकात्मक मानसिक की विरोधी होती है और मिथक को यथार्थवादी स्तर पर प्रस्तुत करती है। कोई मिथक पहले सामान्य, अपूर्ण या दुखान्त कथा को व्यक्त करने लगता है। अधूरा अथवा ट्रैजिक होकर भी जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति बन जाता है, क्योकि मानव जीवन में भी कहीं–न–कहीं अधूरापन है और ट्रेजेडी घटती है। उर्वशी पुरूरवा का मिथक कई स्थानों पर दुखांत है, पर बाद में यह कल्पलोकात्मक बना दिया गया।[35]

35. साहित्य की सृजन धार्मिता–शिवकुमार–पृ0–42

रूपकथा और मिथक –

मिथक को रूपकात्मक मानकर उसके आध्यात्मिक अर्थ को महत्व देने की परंपरा शुरू से थी। क्रिया अनुष्ठानों के स्तर पर भी रूपको का इस्तेमाल टैबूज को व्यक्त करने के लिए होता रहा। रूपकात्मक शब्दों का प्रयोग ऐसे शब्दों और वस्तुओं के बदले किया गया, जिन्हे प्रत्यक्ष जुबान पर लाना वर्जित था। रूपकात्मक क्रियाएं उन क्रियाओं के स्थान पर संपादित की जाती थी, जिसे सीधे करने का निषेध था। यहूदियों के बीच इन्हीं वर्जनाओं के कारण रूपक गढ़ने की प्रवृत्ति अतिविकसित थी। वे यादेह को उसके नाम से नहीं पुकारते, उसे चट्टान, सिंह या सूर्य के नाम से पुकारते थे। [36] हिन्दू समाज में चेचक निकलने पर कई रूपकात्मक कार्य संपादित करने की परंमरा बनी। तेल, हल्दी, केले के खंभे, बेलपत्र, पीली साड़ी तेल गोबर, अक्षत सुपारी आदि पदार्थ विविध अवसरों पर भी रूपकात्मक इस्तेमाल में आते है। रूपकथा में दूसरे का खुला कथन मुख्य विषय है। मिथक को रूपकात्मक बनाकर, प्रस्तुत का निषेध किये बिना आध्यात्मिक कथन की परंपरा स्थापित हो गयी। आदिम मिथक रूपकात्मक नही थे। वे प्रातिकात्मक या सांकेतिक थे। मध्यकाल में उन्हें रूपकथात्मक बनाने के पीछे यथार्थ विरोधी दृष्टि थी, जो भाषा के बाहरी ढांचे को भी सच मानती थी और उसे आध्यात्मिक अभिप्राय की संगति भी बैठा देती थी। मिथक की रूपकात्मकता सामान्यतः अलौकिकता, अध्यात्मिक

---

36. कविता का सृजन और मूल्यांकन–डॉ० सुधेश–पृ०–87

दर्शन या ईश्वरी शक्ति के बोध से समन्वित थी। बौद्धिक संक्रमण के युग में मिथक की संरचना में परिवर्तन हुए। अलौकिकता के स्थान पर लौकिक जीवन के मामलों की अभिव्यंजना प्रमुख हो उठी। नैतिकता के स्वरूप में परिवर्तन आया और भौतिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में प्रश्नों की निरंतरता स्थापित हुई। मिथक प्रतीकात्मक और सांकेतिक स्तर पर अधिकाधिक विवेचित किये जाने लगे।

क्या इतिहास रूपकथाओं में ढलता है ? हर रूपकथा मिथक नही होती, किंतु पुराने मिथकों में रूपकथाओं ने सामान्यतः आध्यात्मिकता और कभी कभार सामाजिक इतिहास को भी व्यक्त किया है। मध्यकालीन कलाओं में मिथक की रूपकात्मकता इतिहास को और किया अनुष्ठानों अध्यात्मक को व्यक्त करती रही है। मंदिरो की कला, मूर्तियो और महाकाव्यों में इतिहास रूपकथाओं में ढल गया और इनके माध्यम से सामाजिक यथार्थ का कलात्मक स्तर उजागर हुआ। इतिहास का यह रूपककरण मिथकीय संवेदना के कारण संभव हुआ। अतः मिथक़ परंपरागत रूपकात्मकता के दो स्तर मिलते है।— (1) किया अनुष्ठानिक रूपक कथा (2) कलात्मक रूपक कथा। कलात्मक रूपकथा मिथक की सामान्य व्यवस्था को चुनौती देकर उसे नया मोड़ देती है, जबकि क्रिया अनुष्ठानिक रूपकथा जड़ होती है। वह तार्किकता और संस्कृतिकरण की प्रकिया से भी रहित होती है।

रूपक की विवेचना को अलंकारवादियों के शिविरों से

निकालने की जितनी जरूरत है, उतनी ही जरूरत उसे धार्मिक वर्ग से अलग करने की है। रूपक की विवेचना अगर सामाजिक सौंदर्य–बोधात्मक स्तर पर कलात्मक दृष्टि से हो, तभी रूपक और मिथक के कार्यशील अंतर्सबंध की सही पहिचान होगी।

प्रतीक और मिथक –

प्रतीक और मिथक दोनों जातीय सांस्कृतिक चेतना की निर्मितियां है। दोनो के बीच का अंतर्सबंध विकासशील है।[37] एक पेड़ में जिस प्रकार पत्तियों की कई पीढ़ियां आती जाती है, मिथक के भीतर प्रतीक भी इसी प्रकार बदलते रहते है। और सामूहिक अनुभव परंपरा का विकास करते है। नयी पत्तियों के मध्य पेड़ भी नया जीवन प्राप्त करता है। वह पुराने जैसा नही रह जाता। मिथक नयी प्रतीकात्मक अवधारणा के मध्य नया शरीरविज्ञान लेकर उपस्थित होता है। नये प्रतीक जीवन के नये अर्थो की ओर ले जाते है। मनुष्य जीवन को अच्छी तरह समझने के लिए हमें भाषा और व्यवहार के परिवर्तनशील प्रतीकों की मूल संरचना को जानना होगा। किसी प्रतीकात्मक दशा में बदलाव वस्तुतः सामान्य धारणा, मूल्यबोध और संप्रेषण की प्रणाली पर निर्भर करता है। मिथक में प्रतीकात्मक दशाओं का बदलाव इसी आधार पर होता है। प्रतीकात्मकता मिथक के प्रतीयमान स्वरूप को मांजती–खरोचती है। उसे नयी अवधारणा तथा मूल्यबोध के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार विकसित करती है कि वह परंपरा का होकर भी पुराना और विसंगत न लगे। प्रतीक जल्दी पुराने पड़ जाते हैं, पर मिथक अक्सर पुराने नहीं पडते। उनका फलक बड़ा होता है।

प्रतीक क्या है ? प्रतीक परंपरा और नये सामंजस्य से अप्रस्तुत वस्तु की और संकेत है। यह कोई उददेश्य पूर्ण सादृश्य भर

---

37. साहित्य और संस्कृति –बैकुण्ठ–पृ0–23

नहीं है, बल्कि मूर्त अथवा अनुपस्थित वस्तु के लिए अमूर्त अथवा संकेतात्मक रूपविधान हैं। प्रतीकात्मक वस्तु द्वारा किसी अन्य वस्तु या भाव का प्रतिनिधित्व होता है। प्रतीक सिर्फ भावनाओं का प्रति– निधित्व नही करता, बल्कि उन गुणों और कार्यो को भी व्यक्त करता है। जो साधारण रूप में व्यक्त नही हो पाते। 'बाउदोलन' ने कहा कि प्रतीक द्वारा कल्पना प्रवीण लेखक अथवा चित्रकार का विभिन्न प्रभावों आपूरित मस्तिष्क आत्माभिव्यक्ति के ऐसे मार्गो का अन्वेषण करता है। जो अंतर्मन की गहराइयों से उत्पन्न होते है। अज्ञात क्षणों में भी साधारण मनुष्य में कुछ ऐसी अनुभूतियां उमडती हैं अथवा कुछ ऐसे वस्तुगत प्रभाव अपनी अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो जाते है। जिनके लिए साधारण शब्द पर्याप्त नही पडते। इन्हें प्रतीकों की जरूरत पडती है। प्रतीकों का रूप सामाजिक है, क्योकि ये मानव जाति के उस व्यापार से उद्‌भूत है ? जो सभी में समान है। हर प्रतीक अपनी सांस्कृतिक परंपरा से बॅधा रहता है, जिसके बाहर अवधारणात्मक स्वरूप का कोई अर्थ नही होता। वह वैयक्तिक चेतना में विशिष्टता और इस विशिष्टता में सामान्य अवधारणा को व्यक्त करने वाला ऐसा कलात्मक रूप है जो एक जमाने में सिर्फ धार्मिक कथ्य व्यक्त करता था, कभी अचेतन के मनस्तात्विक भावों को भी व्यक्त करता था, आज वह पूरे सामाजिक सांस्कृतिक पैटर्न को उभारता है।

गुहा में रहने वाला आदिम मनुष्य रंगीन पत्थरों या कडी

धातु से अपनी गुफा की दीवारो पर अच्छे लगने वाले जानवरो, पक्षियों या औजारो के चित्र अंकित करता था। इनके माध्यम से वह अपने उद्वेलित भावों को भी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देता था। नृतत्वशास्त्र ने मनुष्य के एतिहासिक विकास के कम में उसके जीवन के प्रतीकों का विश्लेषण भाषा और व्यवहार दोनो स्तरो पर किया है इसने स्पष्ट किया है कि मनुष्य की भाषा और उसके व्यवहारो में विकसित होकर प्रतीक किस प्रकार समूची संस्कृति के स्वरूप में अपना प्रसार कर लेते है और मिथको के भीतर अपने को नित नयी संवेदना के साथ प्रस्फुटित करते हैं। वे सामूहिक जीवन के निर्माण है; इसलिए समूह चेतना और क्रियाओं को व्यक्त करते हैं। इनमें आदिम तत्व भी मिलते है और नये भी। कई पीढ़ियों के अनुभवों को लेकर वे मनुष्य की भाषा और क्रियाओं में फैल जाते है। कई प्रतीक कभी मिथकों में रूपातंरित हो जाता है तो कोई मिथक कभी प्रतीक तक सीमित रह जाता है। धर्म ने बहुत से प्रतीकों को मिथक रूप दिया और उन्हें क्रिया अनुष्ठानिक बना दिया। जबकि प्रतीक क्रिया अनुष्ठान के दास नही होते। वे अपनी कलात्मक संरचना रखते है। कुछ पश्चिमी क्षेत्रों में प्रतीक शब्द धर्म या सम्प्रदाय से बंध गया। धार्मिक प्रतीक होते है, किंतु सारे प्रतीक धार्मिक नही होते। 'रमेश कुंतल मेघ' की स्थापना है कि " अगर हम मिथक और धर्म के बीच स्पष्ट सीमारेखा नहीं खींच सकते तो मिथक ओर प्रतीक के बीच फर्क करना मुश्किल काम है।'

मिथक और धर्म बिल्कुल दो चीजें है और सृजनात्मक प्रतीक का संबन्ध मिथक से ही है, धर्म से नही। प्रतीक मिथक नहीं है, गोकि दोनों सांस्कृतिक उत्पादन हैं। प्रतीक मिथक को एक मूल्यबोध में संयुक्त करता है और मिथक प्रतीक को सौंदर्यबोध से। धर्म के बावजूद मनुष्य जीवन में सुदंरता चाहता है। वह मिथकों में ही इस सुंदरता का बोध करता है। और कोई जरूरी नही कि इस सुंदरता का बोध करता है और कोई जरूरी नही कि सुंदरता का रिश्ता किसी धार्मिक क्रिया अनुष्ठान से हो ही। वह इस सौंदर्य को विशिष्ट भाषिक संरचनाओं में अनुभूत करता है। इन विशिष्ट भाषिक संरचनाओं के आधारभूत तत्व उतनी तेजी से नही बदलते। एक शैली से विकसित हो रही भाषिक संरचना को हटाकर बिल्कुल दूसरी भाषिक संरचनाएं नही आ जाती, क्योकि जीवन में एक संस्कृति के स्थान पर एक बिल्कुल दूसरी संस्कृति नही घुस सकतीं। पर भाषा और संस्कृति की वस्तुगत संरचनाओं में मूल्यबोध के परिवर्तन से सौदर्यबोध का विकास होता है अर्थात मिथक की भाषिक संरचना का विकास होता है। प्रतीकों से अलग करके मिथक की कल्पना नही की जा सकती, जिस प्रकार वस्तुगत सौदर्यबोध से मूल्यबोध को अलगाया नही जा सकता।

मिथक विकासशील कथात्मक ढ़ाँचे में व्यक्त मनुष्य का व्यापक सौदर्यानुभव है। प्रतीक में कथा नही, अवधारणा होती है। प्रतीक को अच्छी तरह समझने के लिए उसकी अवधारणात्मक दशाओं

को पहचानना होगा। दो विरोधियो की जोड़ी (जैसे राम, रावण) अपने द्वंदावाद के जरिये मानव जीवन के सौदर्यबोधात्मक अवधारणाओं को ही मिथकीय रूप देती है सौन्दर्य का बोध कराने वाली कला उस सृजनकर्ता की प्रतीकात्मक क्षमता का परिणाम होती है। जो भाषिक संरचना का सृजनात्मक प्रयोग करता है। प्रतीक जीवन स्थितियों का ही वस्तुगत निर्माण है, जो सकारात्मक या निषेधात्मक कुछ भी हो सकता है।[38] 'सुजेन लैंगर' ने संगीत को अर्थ से नहीं जोड़कर तात्पर्य से जोड़ा था। इस तात्पर्य को जीवन की ऐसी पद्धति के रूप में रखा था कि उसे अत्यंत सहजता से अनुभूत किया तथा पहचाना जा सके। इसके पीछे यही दृष्टि थी कि अर्थ साधारणतया पारंपरित संदर्भ की दशा से जुडा होता हैं। अतः संगीत के वैशिष्टय उसका महत तात्पर्य है, जो जीवन की भावना ही है। संगीत में प्रतीक रचना की प्रक्रिया क्या ? सुजेन लैंगर ने इस संदर्भ में 'अन्कज्यूमेटेल सिबंल' की बात की, किंतु संगीत में प्रतीक की संभावना न्यूनतम रहती है। किसी प्रतीक का जब एक रूढ़ अर्थ बन जाता है, उसकी सृजनात्मकता चुकने और लाक्षणिकता खोने लगती है। इसलिए भाषा जहां इसके शब्दों से परिचित लोगों तक ही सीमित रहती है, संगीत किसी भी देश, किसी भी जाति तथा किसी भी भाषा के बोलने वालो के बीच ग्राह्य तथा संप्रेष्य होता है। संगीत अगर अर्थ और परिभाषा के दायरे में बंधने लगे, इसकी मौलिक वृत्ति जैसा कि होने नहीं देगी,

---

38. अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा—रमेश कुंतल मेघ—पृ0—47

तो यह भी भाषा की तरह सीमित क्षेत्र में प्रभाव उत्पन्न करेगा। भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए संगीत सर्वाधिक संबद्ध तर्कयुक्त माध्यम है तथा भाषा सर्वाधिक ससंबद्ध तर्कयुक्त माध्यम। संगीत के वे रूप रूढ़ हो जाते है, जो क्रिया अनुष्ठान के खास अंग है और विशेष अवसरो पर निश्चित अर्थ में प्रस्तुत किये जाते हैं। ये हर जगह असर नही करते। आधुनिक मूर्तिकला, चित्रकला अथवा संगीत में बौद्धिकता का परिमाण कम नही है, फिर भी आदिम मिथकीय भावना अपने प्रतीकों या तात्पर्यों के साथ मिलती है। इनके सहारे हम मानवजाति के इतिहास का आधुनिक अनुभव करते है साथ ही जीवन के नये मिथको से भी परिचित होते है साथ ही जीवन के नये मिथको से भी परिचित होते हैं जो मानव जीवन के साथ घुल मिलकर नहीं चल पाते, वे आयातित अथवा गढ़े हुए प्रतीकों की वैसखियो के सहारे नहीं चल सकते। वे छिन्न भिन्न हो जाते है अथवा साधारण कथा के रूप में ढल जाते हैं। ऐसे कई मिथको के छिन्न भिन्न (अपने मूल बड़े संदर्भ से च्युत) रूप प्रतीको के वेश में इधर—उधर बिखरे मिलते है, जिनका काव्यात्मक इस्तेमाल होता है। किन्तु संस्कारो तथा मानवीय संवेदना के विकास से काटकर गढ़े गये प्रतीक के सामाजिक संदर्भ की पहचान का सवाल हमेशा बना रहता है। 'डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी' का मत है कि आज अर्थ एवं अभिव्यक्ति प्रधान बौद्धिक भाषा में आदिम मिथक तत्व छूट गये है, लेकिन प्रतीको के रूप में वे

बार–बार नया जन्म लेते है। नया अर्थ पाते है और नये अनुभवों का रहस्योदघाटन करते हैं।[39] राम अगर मध्यकालीनतावाद के मर्यादा पुरूषोत्तम के रूप में पुराने पड़ गये, तो उन्हे मिराला जैसे लगातार विरोध सहते आये आम आदमी का नया विशिष्ट संदर्भ मिल गया। 'व्यूह' शब्द मध्ययुग में कोई संकेत न पाकर भी आधुनिक युग में नवागत अभिमन्यु के संदर्भ में विशिष्ट हो गया। निर्गुणियों के हंस (आत्मा), ठगिनी (माया), घर (शरीर), सागर (संसार), आदि शब्द अपने अर्थ संकेतो में रूढ़ हो जाने के कारण अपनी अभिव्यंजना में शिथिल पड गये। कविता रचना की प्रकिया में शब्दों को निरंतर संस्कार मिलता रहा और उनकी अर्थ क्षमता का विकास होता रहा।

सृजनात्मक प्रतीक दशा मिथक कविता की भाषा को पुरानी रचनापद्धति से अलग नयी वस्तुगत रचनापद्धति के साथ खड़ा करती है।

> 'मैं नवागत यह अजित भभिमन्यु
> हूं
> प्रारब्ध जिसका गर्भ से ही हो चुका निश्चित
> अपरिचित जिन्दगी के व्यूह में फेंका हुआ
> उन्माद बांधी पंक्तियों को तोड़,
> कमशः लक्ष्य तक बढ़ता हुआ जयनाद :
> ....

---

39. भारतीय साहित्य –बल्देव उपाध्याय पृ0–30

मेरे हाथ में टूटा हुआ पहिया,

....

यह महासंग्राम

युग–युग से चला आता महाभारत

हजारों युद्ध, उपदेशों, उपाख्यानों,

कथाओं में

छिपा वह पृष्ठ मेरा है।[40]

भाषा की यांत्रिक सपाटता से कविता जब निकल पड़ती है, सामान्य प्रतीक दशा से उसे मुक्ति मिल जाती है। महाभारत में अनेक तरह के आख्यान उपाख्यान तथा गाथाएं है। इनमें अभिमन्यु की भी एक कथा है। उसके हाथों में एक टूटा हुआ पहिया देकर कुँवर–नारायण सृजनात्मक प्रतीक दशाओं के माध्यम से इस मिथक को एक स्तर पर प्रतिष्ठित करते है, जिसमें आधुनिक जीवन के तनावों के कारण प्रत्येक मनुष्य चल रहे महासंग्राम में अकेला हो गया है। जूझने के लिए उसके हाथ में रथ का एक पहिया भर है, वह भी टूटा हुआ। मिथकीय अभिमन्यु यहा 'नवागत अभिमन्यु' के प्रतीक में ढल जाता है। हर आधुनिक मनुष्य की स्थिति अभिमन्यु जैसी हो जाती है। उसकी घोषणा में दयनीयता नहीं, मानवीय सच्चाइयों की ओर ले जाता है, जिसके साथ मिथक सार्थक निजता भी नहीं छूटने पाती। नयी प्रतीक पद्धति का इस्तेमाल पुरानी प्रतीक दशाओं को तोड़ने के लिए भी हुआ है, जिससे मिथक का चेहरा नयी तरह से दिखे।

---

40. अंधायुग–धर्मवीर भारती–पृ0–27

संकेत और मिथक –

आधुनिकतावाद की अद्यतन प्रवृत्ति है– संरचनावाद। उसने साहित्य को नयी जमीन पर खड़ा करने के लिए इसके स्वतंत्र की वकालत की। 'लेखन का क्षेत्र और कुछ नहीं, लेखन होता है।'' की नयी अवधारणा कलावाद के पुराने विशुद्ध रूप से इस अर्थ में भिन्न थी कि इसने अधिक क्रांतिकारी स्तर पर लेखन के इलाके की स्वायत्तता घोषित की। उसके लिए साहित्य संकेतो का ढांचा हैं। पेरिस, चेकोस्लोवाकिया, हॉलैंड, रूस इत्यादि में रूपतंत्रवाद के इस नये दौर में एक चेष्टा हो रही है कि हानिकर तत्वों को निकालकर रूपगठन को साहित्य की केन्द्रीय समस्या कैसे बनाया जाये। इसलिए 'मैं' अथवा 'मेरा' की अवधारणा को नष्ट कर दिया गया और एक ऐसी भाषातात्विक दृष्टि का विकास किया गया, जिसके तहत शब्द की अपनी मूल संरचना होती है और उसका संकेत विज्ञान होता है। यह धारा हिंदी साहित्य में भी इधर पनप रही है, इसलिए इसके स्वरूप को ठीक समझ लेना जरूरी है।

संकेत विज्ञान क्या है और भाषा के मिथकीय रूप से इसका क्या रिश्ता है ? 'फर्डिनांद सासुरे' पहला आदमी है, जिसने संकेतविज्ञान का क्रांतिकारी प्रर्वतन किया था। इससे उभर कर आया था कि अब भाषा विज्ञान भी उसकी एक शाखा भर रह गया है संकेत विज्ञान भाषा की संरचना का अध्ययन करता है। वह हर तरह के बिंबों,

संगीतात्मक, ध्व नियों, वस्तुओं, किया अनुष्ठान, परंपरा, साधारण मनोरंजन आदि की अर्थवत्ता का विश्लेषण संकेत के ढांचो के आधार पर करता है। सासुरे ने वाक को व्यवह्लत भाषा से अलग किया था, क्योंकि व्यवह्लत भाषा का धरातल वैयक्तिक होता है, जबकि वाक एक सामाजिक संस्था हैं। दोनों अपना वास्तविक अर्थ परस्पर द्वांद्वात्मक धरातल पर प्राप्त करते है, जहां दोनो में योग होता है। रोलां बार्थ के अनुसार कोई ऐसा वाक (स्पीच) नही है, जिसका व्यवह्लत रूप (लैंग्वेज) न हो तथा कोई व्यवहत भाषा नहीं हैं, जिसकी वाक या जुबान न हो।

भाषा को संकेतो के ढांचे के रूप में विश्लेषित करते हुए संकेत के दो हिस्से किये गये संकेतक और सांकेतित। संकेतक ध्वनिबिंब है, जबकि संकेतित कोई अवधारणा है। 'समाचार पत्र' का संकेतक एक ध्वनिबिंब है, समाचार पत्र कहने के बाद मन में जो अवध ारणा उभरती है उसमे ताजा राजनैतिक खबरें होंगी, विज्ञापन होंगे, चीजों की दर रपट और दुर्घटनाओं के चित्र होंगे—यह सब संकेतित अर्थ हैं अवधारणा ध्वनि का अविभाज्य हिस्सा है। समाज के लोगो द्वारा निरंतर इस्तेमाल से ही किसी संकेतक को कोई संकेतित अर्थ निर्धारित होता है। बार्थ ने 'एलिमेंट आफ सेंमिआलजी' में इसकी सुनिर्दिष्ट परिभाषा निर्धारित की कि वस्तु के मानसिक प्रतिरूप को संकेतित नहीं कहते, न यह वास्तविक पदार्थ है। संकेलित होने की प्रकिया के भीतर ही उसे परिभाषित किया जा सकता हैं। संकेत का

इस्तेमाल करने वाले व्यक्ति से उसे अर्थ मिलता है। इस परिभाषा में वस्तु और व्यक्ति दोनों से अधिक उस प्रक्रिया का महत्व है, जिसमें व्यक्ति कोई संकेत करता है। ऊपर से कुछ उदाहरण स्पष्ट करने के लिए काफी है कि सिर्फ साहित्य नहीं, जीवन के सभी क्रिया व्यापारों के अध्ययन के लिए संकेतविज्ञान सहायक हो सकता है। क्योंकि हर क्रिया व्यापार की अपनी भाषिक संरचना है, जो कुछ संप्रेषित करती है, कुछ संकेत देती है, एक अर्थ बतलाती है। ऊपर के मिथक बुर्जुआ व्यवस्था की हितरक्षा में कितने बडे सहायक है, यह हम उसके संकेतो के ढांचे से समझ रहे है। बडी कुशलता से शासक शोषक वर्ग अपने चारों तरफ यह ढांचा तैयार करता है और उसे वैश्विक बना देता हैं। ताकि पेटीबुर्जुआ उसमें फंसा रहे सर्वहारा उसमें पिसता रहे। मिथक का यथार्थबोध संकेतित का मुखौटा उठा देता है। संकेत विज्ञान भाषिक संरचना के तत्वो का विश्लेषण करता है। वह रूपवादी विश्लेषण बनकर नहीं रह जाये, इसलिए जरूरी है कि संकेतो के संरचनावाद का अध्ययन यथार्थवाद के संदर्भ मे हो तथा यथार्थवाद का विश्लेषण भाषा और वस्तुओं की संरचना पर आधारित हो। संरचना की सबसे बडी सार्थकता है कि यह यथार्थवाद की वैज्ञानिक समक्ष के लिए एक जबरदस्त आधार देती है। 'रोला बार्थ' ने संकेत विज्ञान को ही पर्याप्त समझ लिया और यह जानने की चेष्टा नहीं की कि यथार्थवाद का गुरूत्व क्या है। विज्ञान कोई हो सकता है, तो वस्तु

का, न कि संकेत का कोई अपना निरपेक्ष विज्ञान बन सकता है।

हरेक संकेत एक सांस्कृतिकार्थिक उ पादन है, जिसकी न केवल एक परंपरा होती है, बल्कि उसके मिथकीय रूप के भीतर एक यथार्थ जगत भी रहता है। यथार्थवादी कलाकार संकेत के लिए संकेत का सृजन नहीं करता। वह संकेत के भीतर यथार्थबोध को भी स्थापित करता हैं। संकेतों की रचना के लिए भाषागत अनवेषण की कोई सार्थकता नहीं है, अगर वह वस्तुगत मूल्यान्वेषण से अंतर्संबंधित और परिचित न हो रोलाबार्थ जिसकी पश्चिम में इधर धूम है, का संकेत विज्ञान वस्तुतः पेटीबुर्जुआजी का रूपवादी संकेत विज्ञान है। इसमें प्रगतिशील और क्रांन्तिकारी भाषिक संरचना के संकेतो का अध्ययन नहीं है और वह पद्धति भी विकसित नहीं हुई है, जिसके आधार पर साहित्य की आलोचना एक रचनात्मक समग्रता के साथ हो सके। क्या क्रान्तिकारी जनता के कुछ संकेत और उनके मिथकीय रूप नहीं हो सकते ? क्या मिथक सिर्फ बुर्जुआजी की अभिव्यक्ति है ? क्या यह कभी सामंतवाद की अभिव्यक्ति नहीं थी और बुर्जुआजी के पतन के बाद क्या मिथक का देहांत हो जायेगा ? इसका अर्थ यह नहीं कि आगामी जीवन में वह सत्य को शाश्वत सत्य बनाकर पेश करेगा। वह यथार्थ को कालबद्ध आयामों में एक सार्वभौमिक रूप प्रदान करने के लिए हैं।

भाषा जब तक रहेगी मिथक भी रहेगा। अपने परिवर्तनशील

रूप में आदिम व्यवस्था से सर्वहारा को अपनी व्यवस्था तक भाषा की सृजनात्मक शक्ति के रूप में सामाजिक यथार्थ के वैश्विक ढांचे को निरंतर प्रस्तुत करते रहना उसका काम हैं। जनता की सर्वहारा चेतना के भी मिथक होतें है। वह संगठित या वैयक्तिक धरातल पर जहां कहीं मौजूदा व्यवस्था का प्रतिरोध करती है, अपने विश्वासों को कला साहित्य मे व्यक्त करती हैं —वहां वह मिथकों की भी रचना करती है। हर हिंसात्मक या शांतिपूर्ण संघर्ष कुछ न कुछ संकेत करता है कि बुर्जुआजी का पतन ऐसे नहीं, ऐसे होगा। उसके जरिये और कुछ नहीं, मनुष्य का विकाससील सांस्कृतिक,आर्थिक अस्त्तिव व्यक्त होता है, इसके पूरे अर्थ के साथ।[41]

41. भारतीय साहित्य—बल्देव उपाध्याय —पृ0 44

तृतीय-अध्याय

सामाजिक सन्दर्भ और मिथक

तृतीय अध्याय

सामाजिक सन्दर्भ और मिथक

(क) लोकमंगल और मिथक –

मिथक और लोक के बीच गहरा संबंध है। कोई समाज व्यक्तियों सांस्कृतिक आधार पर जुटाकर अस्तित्व में आता है, अतः जीवनानुभूति और विश्वास का एक स्तर ऐसा होता ही है, जो सार्वभौम हो। सवाल है कि मिथक की सामाजिक भूमिका क्या धार्मिक कर्मकांडो तक सीमित है अथवा उसका कोई प्रगतिशील स्वरूप भी है ? मिथक किसी समाज को पीछे की ओर ले जाते हैं अथवा उसके विकास में सहायक होते है ? मिथक जीवन में हर जगह हैं– धर्म, व्यापार, खेलकूद, राजनीति, विज्ञापन, शिक्षा, प्रशासन, कला इत्यादि में। ये अंततः कथन या भाषारूप हैं, क्योकि सभी भाषाये कुछ संप्रेषित करना चाहते है– दूसरे लोगो तक कोई बात अथवा संदेश पहुंचाना चाहते है। अतः उन्हें मिथकों की जरूरत पडती है। भाषा व्यक्तिगत नहीं होती, इसलिए वे मिथक भी सामाजिक होते है। समाजशास्त्रीय आलोचना मिथकों का मूल्यांकन सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि में करती है और समाज की हर चीज से इसके बनते –बदलते रिश्तों को पहचानना चाहती है।[42]

---

42. हिन्दी साहित्य का मिथकीय धरातल–डॉ0 तनूजा तिवारी पृ0– 32

'ब्रोनिस्नला मालिनोवस्की' ने मिथक को सामाजिक चार्टर कहते हुए लिखा था– ''मिथक पवित्र सामाजिक परंपराए है, जो वर्णानात्मक स्तर पर संस्कृति के भीतर मानवीय विश्वासों क्रिया अनुष्ठानो तथा नैतिक आचरण की पद्धतियों का उदघाटन करती है। प्रत्येक मिथक स्वाभाविक रूप में साहित्यिक अंतर्वस्तु हैं वर्णात्मक कथा का अर्थ भी साधारण मनोरंजक कथा अथवा व्याख्यात्मक वक्तव्य नहीं है।'' उसने आदिम मनोविज्ञान का विश्लेषण मिथकों के माध्यम से किया और मनुष्य के सामाजिक विकास को पहचानने की चेष्टा करते हुए स्पष्ट लिखा कि काम संबंध , दूसरे सांस्कृतिक संबंधो की तरह किस प्रकार मिथको पर आधारित है। मिथको को मानना ही नहीं, उन्हें निरंतर रचते रहना सामान्य मानवीय प्रकृति है। इस दृष्टि से मिथक मानवीय जीवन का एक प्रमुख व्यापार हैं। वह एक ऐसी कला है जो मनुष्य के सामाजिक विश्वासों की रीढ़ है।

मिथक के विश्लेषण में विज्ञान की क्षमताओं का उपयोग करते हुए क्लाड लेवी स्टास ने उन बहुत सी चीजो पर नये सिरे से विचार किया, जिन्हें अर्थहीन कहकर फेंक दिया गया था। उसने दो तरह के समाजो को उठाया। एक तरह का समाज वह है, जिसमें सारे मिथक संकलित स्वरूप में है। दूसरी तरह के समाज ऐसे है, जिनमें मिथक बिखरे हुए अथवा बिगडे स्वरूप में मिलते है। निश्चय ही जिस समाज में मिथको का एक विशाल खजाना है और यह बिखरी अवस्था

में नही है, उस समाज का सांस्कृतिक विकास एतिहासिक पद्धति से हुआ है । मिथकीय बिखराव किसी समाज के जातीय स्वरूप के बिखराव और विरूपण का द्योतक होता है। ऐसे समाज का इतिहास छिन्न–भिन्न हो जाता है। स्ट्रास ने 'टोटोमिज्म' और 'द सेवेज माइंड' में दूसरी तरह के समाजो पर ज्यादा काम किया। उसकी पहली चिंता यह थी कि अराजक और अर्थहीन प्रतीत होने वाली मिथकीय कहानी अपने स्वरूप में भी काफी अराजक और कमहीन होती है, अतः से सार्थक कम में कैसे ढाला जाये ? संसार भर में विवाह की बहुत सी रीतियां प्रचलित है, हर समुदाय के लिए अलग रीति है– यह सब एब्सर्ड नहीं तो और क्या है ? समाज मिथक के जरिये कुछ ऐसी मानवीय भावनाओ को व्यक्त करता है जो मनुष्य जाति में समान रूप से मिलती है प्रेम नफरत ईर्ष्या अथवा प्रतिशोध की भावनाएं इसी कोटि की हैं। मिथक ऐसी जटिल विषयवस्तुओं और घटनाओं की व्याख्या प्रस्तुत करते है, जो अन्य किसी जरिये से समाज में संभव नहीं है।[43] किसी समाज में दादियां या सास बुरी मानी जाती हो तो यह बात मिथक का रूप ले लेती है।

प्रत्येक आद्यरूपीय समाज में तीन तरह की कथाएं होती है– (1) सामान्य गल्प, (2) किया अनुष्ठानिक, कथा तथा (3) मिथकीय कथा। सामान्यतः मनोरंजन के लिए कही सुनी जाने वाली वर्णनात्मक कहानियों से भिन्न अर्थवान लोककथाएं मिथकीय अथवा प्रतीकात्मक

---

43. साहित्य और संस्कृति– बैकुण्ठलाल–पृ0 48

ढांचे में मिलती है। मिथकीय ढांचे के कारण ऐसी कथाएं बाहर से झूठी लगती है। पर वे जीवन के गहरे विश्वासों से गंभीरतापूर्वक जुड़ी होती है। 'मिरेका एलिआड' ने मिथक और सामान्य अथवा झूठी कथा का अंतर स्पष्ट करते हुए मिथक को क्रियाअनुष्ठानिक कथा से जोड़ दिया –' झूठी कथा हर जगह एवं हर अवसर पर बिना किसी बाधा के कही जा सकती है, पर मिथक के क्रियाअनुष्ठाानिक पुनरावर्तन का एक पवित्र समय होता है।'' मालिनोवस्की की सामाजिक सांस्कृतिक व्याख्या से अलग मिरेका एलिआड की व्याख्या आध्यात्मिक हैं। पावने ने मिथक को जातीय नायकों के अदभुत साहस और अनोखे कारनामों से जोड़ा था। अतः मिथक को ऐसी कथा माना जाये, जिसमें आध्‌ यात्मिक व्यापार और अतिप्राकृतिक घटनाएं हो तथा लोककथा को इनसे रहित सामान्य कथा कहा जाये ? बहुत सी लोककथाओं में अतिप्राकृतिक घटनाएं होती है तथा बहुत– से मिथको का देवता या अतिप्राकृतिक व्यापार से कोई संबंध नहीं होता। फिर मिथक में क्या बात है, जो सामान्य लोककथा में नही होती ? दोनो में जीवन के विवरण रहते है । मिथक में मुख्यतः अभिजात्य वर्ग, के और लोककथा में मुख्यतः कृषक वर्ग के और लोककथा जल्दी विलुप्त हो जाती है, मिथक दीर्घकाल तक और व्यापक क्षेत्र के जातीय मानस में जीवित रहते है। कृषक वर्ग की मिथकीय लोककथाएं भी समाज में बनी रही है। मिथक आर्थिक पेशें का तर्क भी देता हैं। मछुआ जाति के लोग

मछली मारने का व्यवसाय इसलिए करते है कि उनके पूर्वजो ने किसी मिथकीय समय में यह कार्य शुरू किया था। आद्यरूपीय समाज में मिथक जनजीवन के धार्मिक ओर आर्थिक संबंध निर्धारित करते है –उन्हे राजनैतिकार्थिक व्यवस्था के विकासशील ढांचे में व्यक्त करते है। यह साफ है कि मिथक की आध्यात्मिक व्याख्या से इसका सही सामाजिक स्वरूप उजागर नही होगा और लोककथा को सीमित अर्थ में समझने से काम नही चलेगा। मिथक किसी समाज में किस प्रकार कार्य करते है, उसे कहां सुलाकर रखते है, कहां जगाकर आगे दौड़ाते है, लोककथाओं को ही सामाजिकार्थिक संरचना में किस प्रकार बदल देते है, लोककथाओं के रूप में क्या मिलते है इन सवालो पर सोचना होगा। मिथक और लोककथा में पहले बहुत भेद किया जाता था, किंतु बहुत कम लोककथाएं ही होती है, जिनमे मिथकीय तत्व नही होते। कभी–कभी दोनो की विषयवस्तु एक जैसी होती है। दैवी शक्तियों की अभिव्यक्ति से मिथक का कोई संबंध नही है– इस सिद्धांत की स्थापना के बाद मिथक और लोककथा में मिथक की भांति चरित्र की प्रधानता नही होती, स्थितियों एवं सामाजिक कार्य की सिद्धि अथवा सामाजिक विफलता की प्रधानता होती है, लोककथा की संरचना सुगठित नही होती और वह मिथक की तरह ज्यादा गंभीर या समस्या–मूलक भी नही होती।[43]

सामान्य पढी सुनी जाने वाली कथा का अस्तित्व जल्दी

---

43. हिन्दी साहित्य का मिथकीय धरातल–डॉ० तनूजा तिवारी पृ०–47

मिट जाता है, किंतु मिथकीय कथाएं जातीय सांस्कृतिक भावना से जुड़ी होने के कारण सामाजिक विचारों और व्यवहारो के स्वरूपों का दीर्घकाल तक निर्धारण करती है। इन कथाओं में भावात्मक आवेग की प्रधानता होती है। कोई एक व्यक्ति इनकी रचना नही करता। ये सामूहिक चेतना से उद्‌भूत होती है। इसलिए इनमें सामाजिक निर्माण का प्रच्छन्न इतिहास होता है। इनमें लोककल्पना, आद्यबिंब और एक तरह से जीवन की व्यापक प्रक्रिया मिलती है रचनाकार किसी मिथक को साहित्यिक रूप देता है तो वह एक खास सामाजिक रचना या जीवन–पद्धति को उठाता है और अपने समय के बीच उस मिथक को बदलता है। एक समय की बहुत साधारण दिखने वाली मिथकीय कथाएं किसी दूसरे समय कवि की सृजनात्मक कल्पना द्वारा एक विशिष्ट कलाकृति में बदल दी जा सकती है। सामाजिक विश्वासो से रहित सामान्य गल्पों को यह अवसर नहीं मिलता, उनका कार्य रोचक विवरणों द्वारा मनोंरंजन करना अथवा तत्कालिक उददेश्यो को सिद्ध करना है, जबकि मिथकीय कथओ का सामाजिक कार्य मनुष्य जीवन के हर स्तर पर चलता है और दीर्घ एतिहासिक काल तक चलता रहता है– जिससे एक जाति फैलती है और अपनी पहचान सुरक्षित रखती है। मिथक के अध्ययन में अब उन लोक–कथाओं को भी शामिल कर लेना चाहिये जो सामान्य गल्प नहीं होती।

लोककथाओं के विभिन्न रूप है, जिनका सामाजिक महत्व

हैं। ग्रामीण कृषि–जीवन की अनेक कथाएं लोककथा अथवा लोकगीत के रूप में जनता के कंठो में जीवित है। इनमें सामाजिक मिथक भी प्रतिबिंबित होते है। उत्पीड़ित समाजो में परीकथाएं बहुत प्रेरक होती हैं। इनमें सामाजिक मिथक भी प्रतिबिंबित होते है। उत्पीडित समाजो मे परीकथाएं बहुत प्रेरक होती है। वे प्रायः हर समाज में मिलती है। परीलोक एक यूरोपियन लोक है जहां कोई कटु या पीड़ाजनक स्थिति नहीं मिलती। क्षमतावान जाति द्वारा कोई समाज जब पराजित करके कुचल दिया जाता है अथवा लोगो में निराशा आ जाती है, परीकथाएं ही नूतन आशा–आकांक्षा का संचार करती है। परीकथा सिर्फ परियों की कथा को नही कहा जाता, वह दबे मनुष्य की उन्नत अवस्था में पहुंचने की भावात्मक कथा है, जिसमे जाहिर है, कोई एतिहासिक क्रम नही होता, फिर भी वह बच्चो के मन पर अच्छा असर डालती है। परीकथाओ का पात्र अक्सर कोई ऐसा बच्चा या किशोर रहता है, जो कुरूप नाटा अथवा असमर्थ हो और अपने दबे हुए जातीय गुणो के साथ समाज में अवहेलित हो। ऐसा भी हो सकता है कि वह किशोर किसी कठोर सामाजिक विसंगति तथा पारिवारिक उत्पीड़न का शिकार हो। परियां न पूर्ण मनुष्य होती है, न देवी। वे ऐसे बच्चो–किशोरो को मनुष्यता के आत्मीय स्पर्श से भर देती है। क्योकि इसी से वे बच्चे–किशोर अपने जीवन में विलग रहते है मनुष्यता का एहसास उनके आत्मीनर्वासित जीवन को एक रोशनी से परिपूरित कर देता है।

चमत्कारपूर्ण कार्यो और जादू के कारण लोगो को कभी–कभी लगता है कि वास्तविक समस्याओ का हल चमत्कार या जादू से ही संभव है, सामान्य संघर्ष से नही। इससे निराशा उपजती है और ऐसी परीकथाएं धातक होती है, जो मानवीय प्रयासो को महत्व नही देतीं। प्रबुद्ध लोगों को परीकथाओं में विश्वास नहीं होता। परीकथाओं की एक सीमा है कि ये व्यक्तिगत सामर्थ्य तथा अभिलाषाएं जागृत करती है, जबकि मिथक सामाजिक सामर्थ्य जाग्रत करता है। सुजान लेंगर के शब्दों में "परीकथा एक इच्छापूरक सोच है।" मिथक ऐसे सोच तक सीमित नही रहता। कुछ परीकथाएं अपने पात्रो के कठिन संघर्ष के बाद उन्हें कल्पलोकात्मक फल तक पहुंचाती है, वे बच्चों–किशोरो को समाज का दमनचक्र झेलने के लिए आथिक सक्षम बनाती है। वे मानवीय अचेतन की प्रकृत कामनाओ को जाग्रत करती है। इसलिए इनकी सार्थकता हर युग में बनी रहती है।[44]

कोई समाज जितना भी पिछडा पराजित, शोषित अथवा दलित क्यो न हो, उसमे हर हालत में खड़ा होने और चल पडने की शक्ति होती हैं। सास्कृतिक जीवन के मिथक उसकी शक्ति के सबसे बडे स्त्रोत है, वे वास्तव को पहचानने के लिए प्रेरित करते है। कई अलिखित लोककथाएं जो आद्यरूपीय समाज में पुरातन काल से चली आ रही है, मानवीय भावनाओं को उदात्त रूप प्रदान करती है। इससे पता चलता है कि मनुष्यों में उठ खड़ा होने की ताकत उनके भीतर

44. साहित्यिक निबंध–राजनाथ शर्मा पृ0–28

है, सिर्फ उन्हें वस्तुवादी फैसले के लिए तैयार रहना है। यहां विज्ञान उनकी मदद करता है । पहले जादू और धर्म उनके सहायक थे। लोककथाएं सैकडो हजारो वर्ष पहले से मानवीय जीवन की सच्चाइयां बतलाती चली आ रही है। आज के वैज्ञानिक युग में भी उनका सामान्यतः कथा का महत्व कम नही हुआ है। ग्रीक 'मुथोस' (Muthos) का अर्थ ही था– शब्द, कथा या गल्प। कथा में ऐसे विवरण होते है जो पूरी जीवन प्रक्रिया को उभारते है। वे कुछ ऐसा कह जाते है, जो उस स्तर पर किसी दूसरे माध्यम से नही कहा जा सकता। सैकडो हजारो वर्षो से मिथक अपने कथात्मक ढांचे में लोकप्रिय रहे है, सौदर्यानुभव कराते रहे है, तथा सामाजिक सांस्कृतिक व्याख्याएं देते रहे है। बहुत सारी लोककथाएं मिथकीय है और उनमे आदिम एवं मिलते है। मिथक का स्वरूप सामान्यतः लोककथात्मक होता है, पर सामान्य गल्प की कोटिवाली लोककथाओ को मिथक नही कहा जा सकता। 'अनारकली' का किस्सा सामान्य गल्प है, जबकि सोहनी माहीवाल की लोककथा में मिथकीय तत्व है। बेताल की कहानियां सामान्य गल्प है, जबकि 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश' या 'कथा सरित्सागर ' की कथाओ में मिथकीय तत्व प्रचुर है। पशु पक्षी की कहानियां, किसी की नही मनुष्य की कहानियां है , उसके सांस्कृतिक जीवन की व्याख्या देती है। कुछ कथाएं नृतत्वशास्त्रीय दृष्टि से मिथक नही होती। वे सभ्य समाज से बनती है, और मिथकीय गुणो से संयुक्त हो

जाती है जैसे मुक्तिबोध का क्लाड इथर्ली। निजंधरी कथाएं भी होती है– एतिहासिक नायकत्व या प्रकृति के एतिहासीकरण की कथाएं। निजंधरी कथाएं किसी बड़ी मिथकीय कथा के भीतर समय–समय पर प्रवेश करती है। ''महाभारत में इनकी संख्या बहुत अधिक है, निजंधरी कथाएं तभी मिथक के अन्तर्गत आती है, जब उनके भीतर से कोई सामाजिक यथार्थ प्रतिबिम्बित हो। दुष्यंत की कथा निजधरी कोटि की होते हुए भी मिथकीय इस वजह से है। 'टॉमसन' ने लिखा है कि मिथक में निजंधरी कथाएं तभी मिथक के अंतर्गत आती है जब उनके भीतर से कोई सामाजिक यथार्थ प्रतिबिम्बित हो। दुष्यंत की कथा निजंधरी कोटि की होते हुए भी मिथकीय इसी वजह से है। टॉमसन ने लिखा है, कि मिथक में निजंधरी एतिहासिक और निकट अतीत की साहित्यिक परंपरा आती है। परंपरागत दृष्टि से निजंधरी कथाओं को मिथक से इसलिए अलग रखा जाता था कि वे देवताओं की नही नायको की कथाएं मानी जाती थी।

सभ्यता के प्रारम्भिक चरण में जादू का प्रभाव स्वाभाविक था इस समय के समाज मे यह एक आदिम विज्ञान के रूप में विकसित हुआ। आदिम धर्म तथा जादू अलग–अलग नही थे इनका स्वरूप समन्वित था। धर्म और जादू लंबे काल तक समन्वित रहे। दुर्खीम ने इनका अंतर स्पष्ट करते हुए बतलाया कि धर्म के लिए परिषद (जैसे मंदिर) की अनिवार्यता रहती है, जबकि जादू के संदर्भ

में जादूगर अकेला कार्य करता है, अधिक से अधिक उसका एक सहायक तथा मंच होता है । फ्रेजर ने आदिम मनुष्य के परिवेश को समझने का गहरा प्रयत्न किया। उसने जादू तथा टोटम प्रवृत्ति के साथ तत्कालीन कर्मकांडो की परंपरा का भी विश्लेषण किया। आरम्भ से मनुष्य प्राकृतिक प्रसंगो को लेकर कुछ सामान्य नियमो की खोज करने की कोशिश में था, ताकि उसका कुछ फायदा हो। उसने कुछ ऐसे सूत्र इकट्ठा किये जिसमे से कुछ को कला और कुछ को प्रारम्भिक विज्ञान कहा गया। कुछ ऐसे विरूपित सूत्र थे, जिनसे जादू का विकास हुआ। मैजिक को विज्ञान की सजातीय गोष्ठी मे रखते हुए फ्रेजर ने धर्म से इसके संबंधो का अन्वीक्षण किया ईजिप्ट की धार्मिक सच्चाई हो सकती है कि वहां के जादूगर देवताओ को अधीन कर लेते है , किन्तु फ्रेजर का हिदुत्व के प्रति यह दृष्टिकोण गलत है कि ब्रम्हा, विष्णु, शिव तांत्रिको के आधीन थे और इनके मंत्रो के उच्चारण मात्र से कोई करिश्मा घट जाता था तथा देवतागण पृथ्वी पर अवतरित होने के लिए बाध्य हो जाते थे। उसने यह भी बतलाया कि संपूर्ण सृष्टि देवताओं के अधीन है, किंतु देवतागण मंत्रो के तथा मंत्र ब्राम्हणो के अधीन है। अतः ब्राम्हण ही ईश्वर है फ्रेजर ने तपस्या तथा आत्मसाधना को जादू की कोटि में रखने की गलती कीं। वस्तुस्थिति यह कि कि भारत में शोषित वर्ग तथा शोषक वर्ग के धार्मिक स्वरूपो में हमेशा अंतर रहा। सुविधाओं से सम्पन्न होने के कारण द्विजो ने

धर्म ने परिष्करण तथा संस्करण का ध्यान रखा जबकि दलितो के धर्म का रूप जादू के नजदीक चला गया।

मध्य युग में दलितो ने विद्रोह किया, किंतु वे जादू होने अथवा इंद्रजाल की प्रवृत्तियों को अपने धार्मिक कियाअनुष्ठानो में समन्वित होने से रोक नही सके। उनके सामाजिक जीवन में टोटका, जादू, नजर, ओछन बलि, इंद्रजाल, टोना आदि का प्रभाव बढ़ता गया। विदेशी आक्रमणे से उपजी निराशा के कारण भी अद्भुत घटनाओं, भूत–प्रेत जिन्न अथवा सिद्ध पुरूषों की करामातो की ओर आकर्षण धर्म के सामनांतर पुनः तेजी से विकसित हुए। रहस्य की भावना हर प्रसंग में देखी जाने लगी। अधोनमुखी संस्कृति की धारा में धर्म तथा जादू में समानता देखी जाती है । अत्यंत पिछडे समाजो में जादू ही मिलते है धर्म नही।

आदिम समाज में जादू परोक्ष सत्ता को अपने समक्ष उपस्थित रखने का एक साधन था। इससे प्रकृति पर नियंत्रण होता था। धर्म का आदिम स्वरूप जादू से विकसित हुआ था। कालांतर में धर्म तथा जादू को एक समझने की भ्रांति शताब्दियों तक रही, क्योकि सामंती व्यवस्था से धर्म के साथ जादू संयुक्त था। कृषि फसलों के उत्पादन के साथ जादू प्रधान संस्कार आज भी गांवो में मिलते है तथा टोटका की अच्छी फसल नही हो सकती। दक्षिण पूर्व एशिया के आदिवासियो, तिब्बतियो तथा भारतीय जनजातियो मे ही नही, शहरवासियो

में भी यह विश्वास मिलता है कि कुछ खास बीमारियां जादुई क्रियाअनुष्ठान के दुहराने भर से अच्छी हो जाती है । अपने को आधुनिक समझने वाले व्यक्ति भी मादुली, ताबीज, ग्रहशांतिकारक अंगुठियां पहनते देखे जाते है यह सब मिथक नही भ्रांति हैं।[45]

फ्रेजर ने लिखा था कि भौतिक वादी दृष्टि से एक काल मे पत्थर युग रहा होगा। इसी प्रकार बुद्धिवादी दृष्टि से प्रत्येक समाज में कभी जादू का युग अवश्य रहा होगा जादू में अनास्था के फलस्वरूप समाज धर्म की ओर उन्मुख हुआ। यह स्पष्ट है कि कालांतर में धर्म ने जादू से धर्म की ओर बढ़ी। इसके प्रारंभिक चरण में जादू को थोड़ा बहुत स्थान मिलता रहा परंतु धर्म के बौद्धिकीकरण तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में धर्म से जादू बिल्कुल हटता गया। मिथक भी स्वभावतः जादू की भावना से पृथक हो गया।

डार्विन के विकासवादी सिद्धांतो से प्रभावित होने के बाद मनुष्य और समाज को विकासशील रूप में देखा जाने था। धर्म को भी विकासशील रूप में देखा गया तथा मानवीय व्यापारो के बारे में एतिहासिक सोच विकसित हुआ। सबसे पहले सामाजिक व्यवस्था को ऐसी अखंड़ सत्ता के रूप में समझा गया, जो कुछ सामान्य आदर्शो पर टिकी होती है अपने राजनैतिक उद्देश्यो से अभिप्रेरित होकर धर्म इन आदर्शो को अपने प्रभाव के अन्तर्गत ले आता है वह खास विश्वासो और क्रियाअनुष्ठानो का जातीय स्वरूप निर्धारित कर देता

45. हिन्दी साहित्य की मिथकीय यात्रा—डॉ0 सत्यराज—पृ0 86

है। सामाजिक,राजनैतिक जीवन के वास्तविक पहलुओ को वह अनुष्ठाबद्ध कर देता है। धर्म में जब जादू का स्थान अधिक था, समाज में उतनी अखंडता नहीं थी और इसके सामान्य आदर्श अभी पूरे तौर पर निर्मित नहीं हुए थे। इसलिये जादू एक व्यक्तिगत चीज थी, भले उसके नियंत्रण में पूरा समाज था। जादू सामाजिक होता था एक कियाअनुष्ठान से जुड़कर। धर्म का स्वरूप कियाअनुष्ठान की ओर उन्मुख हुआ –यह एक एतिहासिक घटना थी आखेटक और भ्रमण–शील सांस्कृतिक व्यवस्था से निकलकर ग्राम को केन्द्रित करके जब कृषि व्यवस्था शुरू हुई, धर्म भी मनुष्य की सामाजिक जरूरत के तहत अपने अपेक्षाकृत अधिक सामान्य आदर्शो के साथ उभरकर आया। वेदो से पता चलता है कि नदी के किनारे लोगो के कृषि क्षेत्र थे। वहां एक सभ्यता पनपने लगी थी उसकी सामाजिक अर्थव्यवस्था के बारे में अलग से बहुत कम पता चलता है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि धर्म जीवन के तमाम राजनैतिक आर्थिक व्यापारो का निर्धारण करने लगा था। अतः समाज के राजनैतिक, आर्थिक, अंतर्विरोध, धार्मिक विश्वासों और क्रियाअनुष्ठानो के स्वरूप के भीतर ही उजागर होते थे।

मिथक को धार्मिक कियाअनुष्ठान (रिचुअल) का दूसरा हिस्सा बतलाया गया है। क्या ऐसा मानना चाहिये कि जादू या धार्मिक कियाअनुष्ठान के बाहर मिथक का अस्तित्व नही होता ? धर्म के संदर्भ में हमे पता है कि सारे मिथक देवता से जुडे नही है। मनु, गिल्गिमेश,

आडीपश, पुरूरवा, अभिमन्यु जैसे मिथक देवता के नही है। वैसे कैसिरेर ने लिखा है कि "मानव संस्कृति के इतिहास में धर्म मिथकीय तत्वो मे हमेशा मौजूद रहा है। यहां तक कि कच्चे और अल्पविकसित स्वरूप में भी मिथक ऊंचे आदर्शो से बंधा रहा है और आगे चलकर धार्मिक प्रेरणाओ से जुड़ गया है"। यह बात गलत है। मिथको का अस्तित्व जादू और धर्म के बाहर भी रहता है उनका स्थान सबसे ऊंचा है इसमें संदेह नही है कि मिथक और धर्म दोनो ही संसार के प्रति आवेश—युक्त प्रतिक्रियाएं है और दोनो में भावना की प्रगाढ आंतरिकता है किंतु मिथक एक कलारूप अधिक हैं। यह अलग बात है कि धर्म अपनी सुविधा की राजनीति के अनुसार मिथको के अनुसार मिथको को अपने प्रभाव के आधीन कर लेता है, कला के विश्वासो को अपने विश्वासों मे बदल लेता है और उन्हे एक कियाअनुष्ठान से भी जोड़ देता है। यह सब वह समाज की जरूरतो के नाम पर करता है जबकि ये जरूराते पूरे जनसमाज की कम और शासक—शोषक वर्ग की ज्यादा होती है। मिथक की रचना जादूगर धर्मगुरू या वैज्ञानिक नही करता। जनता अपने मिथको की रचना करती है, अक्सर वह जादू, धर्म या विज्ञान के परंपरागत या अमानवीय स्वरूप के प्रतिवाद में यह रचना करती है। होता यह है कि ऐसे कलात्मक सृजन के इस्तेमाल कोई सामाजिक व्यवस्था अपने प्रचार के रूप में करने लगती है। इसी से आभासित होता है कि मिथक उन्हीं कथाओ को कहते है जो किसी

न किसी रूप में पवित्र धार्मिक अनुष्ठानो से बंधी रहती हैं। क्या रामायण के जटायु का मिथक हनुमन से इसलिये कम श्रेष्ठ है कि वह किसी मंदिर की पूजनीय मूर्ति नही बन सका।[45]

45. ?

चतुर्थ-अध्याय

साहित्य एक संक्षिप्त मीमांसा

चतुर्थ अध्याय

❁साहित्यः एक संक्षिप्त मीमांसा❁

(क) कला और साहित्य –

मानव एक चेतन और जिज्ञासु प्राणी है। कूटस्थ चैतन्य की स्वाभाविक संप्रेरणा उसे भावयित्री कारयित्री प्रतिभा की ओर अग्रसर करती है। यह सभी मे एक साथ घटित नही होता। व्यक्ति के संस्कार सामर्थ्य व्यक्तित्व तथा प्रतिभा में अंतर होने के कारण सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर ही उसकी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में अंतर दृष्टिगोचर होता है। जिज्ञासु होने के कारण उसकी दृष्टि मानवीय जीवन से सम्बद्ध परिपार्श्वो के सत्य को आत्मसात करने की चेष्टा करती हैं। वह जो भी अनुभव करता है, उसे व्यक्त करना ही चाहता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की क्षमताएं अलग–अलग होती है। अनुभूति की सौदर्याग्रही प्रवृत्ति विश्व के विविध क्षेत्रो में प्रकीर्ण 'सुन्दरम्' को खोजकर अन्तश्चेतना से तादात्मय स्थापित करती है। अपनी भावायित्री प्रतिभा के कारण वह जिज्ञासु होता है। यह कारयित्री प्रतिभा ही है जो हमें सृजनधर्मी बनाती है। इन दोनो प्रतिभाओ के योग से सृजन की प्रक्रिया कल्पना शक्ति का सहयोग लेती हुई सृजनात्मक ध्रुवान्त तक पहुंचने की चेष्टा करती हैं।

प्रातःकाल प्राची से उदित हो रहे अभिराम बालारूण के सौदर्यानुभूति की क्षमता नही होती है। जिनमे यह क्षमता है भी, उनमे उसके अभिव्यक्ति की क्षमता अलग–अलग होती है। इसका कारण है कि प्रत्येक दृश्य दृष्टा की आत्मप्रथात्मकता से अनुप्राणित होता है और उस दृश्य की अभिव्यक्ति में दृष्टा की आत्मभिव्यक्ति का सम्मिश्रण रहता है।[46]

मानव सौदर्य प्रेमी है उसकी चेतना किसी असुन्दर को अभिनंदित नही करती जब भी उसका सौन्दर्य से साक्षात्कार होता है तो, मानवीय स्वभाव के कारण वह उसकी अभिव्यक्ति के लिये तड़प उठता है। तब वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार उस सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है। वस्तुतः यह प्रक्रिया व्यक्ति के निजत्व की संकीर्णता को चीरकर लोक से जा जुड़ने की मांगलिक प्रक्रिया का परिणाम है अर्थात व्यक्ति की सौन्दर्यानुभूति मात्र उसी को आनंदित करने तक सीमित नही रही, प्रत्युत लोकार्पित होकर सौन्दर्यानुभूति के आनंद को बांटकर उपभोग करने की कल्याणमयी प्रवृत्ति है। व्यक्ति की सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति को कला की संज्ञा दी गई है। कला और सौन्दर्य इतने सम्बद्ध माने जाते है कि उनमें कोई विभाजन रेखा खींचना असम्भव है। जब मानव अपनी कृति में सौन्दर्य का योग करता है तभी वह कृति 'कला' कहलाने लगती है। वस्तुतः 'कला' का उद्गम सौदर्य की मूल प्रेरणा से होता है और इससे कलाकार को आनन्द की अनुभूति होती है और यही आनन्द कला का मुख्य उददेश्य है।[47]

---

46. काव्य की अन्र्तयात्रा–विश्वनाथ प्रसाद–पृ0–36

47. सौन्दर्यबोध और कला–राजेन्द्र बिस्ट–पृ0–23

साहित्य शब्द अपने भीतर एक व्यापक अर्थ को समेटे—सहेजे हुए हैं। व्यापक और वैविध्यपूर्ण अर्थों मे साहित्य शब्द का प्रयोग विशेष प्रकार की अलिखित और लिपिबद्ध रचनाओ के लिए किया जाता है जिनमे कि विशेष प्रकार के भावो और विचारो—वे प्रचारात्मक भी हो सकते है— का अन्तः संयोजन रहा करता है। भाषा के माध्यम से विचाराभिव्यक्ति का सबसे सबल साधन साहित्य को ही माना गया है; इसी कारण सभी प्रकार की लिपिबद्ध रचनाओ को अपने व्यापक अर्थो और रूपो में वह अपने अन्तराल में समेटे हुए है। प्रायः विद्वानो का मत है कि साहित्य शब्द की इस व्यापकता का मूल कारण और आधार अंग्रेजी का लिटरेचर (Literature) शब्द ही है। अंग्रेजी में इस शब्द को रूढ़ या सीमित अर्थ का परिचायक न मानकर आरम्भ से ही अत्यधिक व्यापक अर्थ का परिचायक स्वीकार किया गया है। इसकी यह परिव्यापकता आज भी ज्यो की त्यों विधमान है। कालिदास, भास, तुलसीदास, सूर, दिनकर आदि की सर्जनाएं आज भी उसी अर्थ मं लिटरेचर (साहित्य) है जिस अर्थ में गोल्डस्मिथ, शैक्सपियर, वर्डस्वर्थ और टी0एस0 इलियट की सर्जनाएं है। इस व्यापक अर्थानुसार राजनीति, धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल, समाज आदि से संबंध रखने वाली लिखित कृतियॉ तो साहित्य हैं ही; किसी दल, बीमा—कम्पनी या औषधि विक्रेता की प्रचार सामग्री भी अपने लिखित रूपो में साहित्य ही हैं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि लिपिबद्ध रूप में कविता,

कहानी, नाटक उपन्यास आदि ही साहित्य नही है, इस प्रकार की लिखित लिपिबद्ध रचना भी साहित्य ही है। इन दृष्टियो से हम साहित्य के क्रमशः 'व्यापक' और 'सीमित' दो अर्थ ले सकते है; बल्कि लेते भी है।

साहित्य के 'व्यापक' अर्थ में ललित भावनाओं के साथ–साथ अन्य सभी प्रकार के गणित, भूगोल, अर्थशास्त्र समाज शास्त्र इतिहास राजनीति शास्त्र और प्रचार सामग्री आदि से सम्बन्धित विभिन्न और विविध विषय साहित्य ही है। अपने सीमित अर्थ में साहित्य वह है जिसके अन्तर्गत भावनाओं और विचारों के ललित, उत्तेजक एवं परितृप्ति देने वाले समस्त विधात्मक रूप–स्वरूप आते हैं। काव्य नाटक उपन्यास, कहानी आदि इसी के अन्तर्गत आयेंगे। एक विवेचक के शब्दों में उपरोक्त दोनो अर्थो का सूक्ष्म अन्तर हम इस प्रकार से अंकित कर सकते है– "अपने व्यापक अर्थो में साहित्य सामान्य से लेकर विशेष तक सभी विषयों की जानकारी हमे प्रदान करता हैं। इसके विपरीत अपने संकुचित सीमित अर्थ में साहित्य मानव–जीवन के भाव लोक के स्पन्दन को लिपिबद्ध करके अन्यो तक पहुंचाता है। पहले प्रकार के साहित्य में कलात्मकता का समावेश है। पर वह स्थूल और बाह्य ही अधिक है। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के साहित्य में बाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकार की कलात्मक सूक्ष्मता और सौन्दर्य का रहना प्रायः अनिवार्य है। इसमें मानव जीवन का बाह्य परिप्रेक्ष्य

ओर आन्तरिक परिप्रेक्ष्य दोनो का स्वाभाविक सामजस्य रहता है।''
स्पष्ट है कि मानव जीवन के सभी प्रकार के सुंदर (वह उपयोगी भी हो सकता है), शिव और सत्य का सामजस्य जिसमे रहता है वही साहित्य है हमारा विवेच्य एवं आलोच्य विषय भी इसी प्रकार का साहित्य है।

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई है, निश्चय ही ध्यातव्य एवं विचाराणीय विषय हैं। इसका कारण स्पष्ट है। वह यह कि भारतीय परम्परा में इस शब्द के लिए 'वाडमय' जैसे शब्दों का ही प्राचीन प्रयोग मिलता है। दूसरे आज हम जिसे साहित्य नाम से अभिहित करते है, वह सब पाश्चात्य साहित्य (Literature) की देन प्रायः स्वीकार किया जाता हैं। परम्परा के रूप में 'वाडमय' अर्थात 'वाणी का विधान' ही साहित्य है। संस्कृत ग्रंथो में 'वाडमय' और 'काव्य' शब्दो के अन्तर्गत ही उन समस्त विधाओ का समावेश मान्य रहा है जिन्हें आज हम सामान्यतया संकुचित अर्थो में साहित्य नाम से अभिहित करते हैं। फिर भी 'साहित्य' शब्द का एक अपना ही व्युत्पतिलभ्य अर्थ है, इससे इन्कार नही किया जा सकता। परम्परा से इस शब्द का विशिष्ट व्युत्पतिलभ्य अर्थ अधिग्रहीत भी किया जाता रहा है और वह आज भी मान्य है।

भाषा–वैज्ञानिक 'साहित्य' शब्द को 'तत्सम' शब्द स्वीकार करते है। यह स्वीकृति इसके परम्परागत रूप होने की ओर ही इंगित

करने वाली है। तात्पर्य यह है कि 'साहित्य' शब्द हिन्दी का अपना न होकर संस्कृत से अधिग्रहीत शब्द है। संस्कृत के वैयाकरणों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—इस शब्द के मूल में 'सम' उपसर्ग है, मध्य में 'धा' धातु है जो अपने धात्वर्थ और रूप में व्याकरण के अनुसार 'तद्धतो' सूत्र से 'हित' रूप में परिवर्तित हो जाया करता है। इस सबके अन्त में 'यत्' प्रत्यय लगकर रूप बना देता है— सम्+हित्+यत् = 'सहित'। इस 'सहित' का भाववाचक रूप ही 'साहित्य' है। 'धा—धारते' रूप से जो 'हित' धातु रूप बनता है, उसका अर्थ होता है— धारण करना। स्पष्ट है कि साहित्य हमारे जीवन के विचारों और भावों को ही एक संचित निधि के रूप में धारण करके उसे भावी पीढ़ियों के लिये सुरक्षित रखा करता है। अतः इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के आधार पर हम कह सकते है कि 'जिसमें सम्यक् रूपेण धारण—शक्ति रहा करती है, अपने साथ रखने या सबके साथ रहने की अकाट्य—अद्भुत शक्ति रहा करती है, वही इस ललित एवं भावात्मक अर्थ में (व्यापक अर्थ में भी) साहित्य है'। उपर्युक्त धारणा के अनुरूप के ही संस्कृत काव्य—शास्त्र में 'साहितस्य भावः इति सहित्यम' कहकर इस शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ ग्रहण किया जाता है। संस्कृत की इस उक्ति का अर्थ होता है—'जिस (रचना) में साथ होने या रहने का अर्थ विद्यमान रहता है, वहीं साहित्य है।' इसी प्रकार संस्कृत में 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति की 'स—हित' और 'सह—हित'

भी की जाती है; जिसका अर्थ है–''हित के साथ होना ही साहित्य है''। संस्कृत में साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति एक अन्य प्रकार से भी की जाती है। वह उपलब्ध व्युत्पत्ति–''हितेन सह (सहितम) तस्य भावः साहित्यम'' अर्थात जो रचना अपने भीतर प्राणिमात्र के हित–साधन का भाव धारण किये रहती हैं; वहीं साहित्य है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि जहां तक मात्र हित–साधन का प्रश्न है, अन्य लिपिबद्ध रूप –गणित, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, राजनीति और दर्शनशास्त्र तो मानव का हित –साधन ही करते है; फिर उन्हें हम संकुचित या लिलित अर्थों में साहित्य के नाम से अभिहित क्यों नही किया करते ? इसका उत्तर यह है कि जहां तक प्राणि–मात्र के हित–साधन का प्रश्न है, ये सब भी निश्चय ही यह कार्य अपने समग्र–भाव से करते हैं। अन्तर यह है कि इनका हित–साधन बाह्य एवं भौतिक अर्थ में ही प्रमुखतः हुआ करता है। भाव–लोक को हर्षित, आन्दोलित एवं उत्तेजित करने की शक्ति इनमें नहीं रहा करती। साहित्य से यहां जिस हित–साधना की अपेक्षा है, वह भाव–संयत रहा करती है। इसमें जीवन के अन्तः–बाह्य का सामजस्य रहा करता है। भावों का यह अन्तः बाह्य समंजन एक प्रकार के अलौकिक आन्तरिक आनन्द का विधान करने वाला हुआ करता है। अतः हित–साधन में आनन्द–तत्व का समावेश हो जाने के कारण अन्य लिपिबद्ध कृतियों से साहित्य (अपने ललित रूप के कारण) अलग–अलग होकर अपने

महत्व की अन्तः छाप समस्त मानव तन–धारी प्राणियों के मनः पटलों पर छोड़ जाता है यही उसका 'स–हित' है।

संस्कृत काव्य–शास्त्र में उपरिलिखित ढंग से 'साहित्य' शब्द की जो व्युत्पत्ति उपलब्ध होती है, वह साहित्य को अंग्रेजी के 'लिट्रेचर'(Literature) शब्द का पर्याय मान लेने से संभव नही हो सकती। अंग्रेजी साहित्य में 'लिटरेचर' शब्द की व्युत्पत्ति 'लैटर्स से की जाती है। वहां और सामान्य प्रचलित रूप में इस शब्द का अर्थ होता है– 'अक्षर–समूह'। इस अर्थ में हम साहित्य का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ 'कुछ अक्षरों का समूह एवं विस्तार मात्र' ही मान या कह सकते है, जो कि न तो काम्य अर्थ है और न किसी भी रूप में ग्राह्य माना जा सकता है। अतः सारतत्व के रूप में हम साहित्य शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यही कर सकते है कि "वह विधा या विद्या जिससे मानव का आनन्द मिश्रित और शिवत्व रूप से हित साधन हो, साहित्य है।"

साहित्यः लक्षण और परिभाषा –ऊपर साहित्य –शब्द का जो व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया गया है, उसी के आधार पर सरलता से अब इसका लक्षण परिभाषा अंकित की जा सकती है। एक बात और भी ध्यातव्य हैं। वह यह कि संस्कृत–काव्य शास्त्र में भी साहित्य शब्द की कोई निश्चित परिभाषा नही मिलती। वहां भी इस शब्द के अर्थ–विकास को ध्यान में रखकर ही इसे परिभाषित करने का

अनवरत् प्रयत्न किया गया हैं। भारतीय विद्धानो के समान पाश्चात्य विद्धानो ने भी अर्थ विकास की इस प्रकिया पर अपने देश—काल के अनुरूप पर्याप्त विचार किया है। यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि प्राचीनतम संस्कृत—साहित्य में दृश्य—काव्य के अन्तर्गत ही 'काव्य' या साहित्य शब्द को परिभाषित करने का प्रयत्न होता रहा है। वहां मूल रूप में साहित्य शब्द नही, वाड़मय के लिए 'काव्य' शब्द ही हमें उपलब्ध होता है। अतः अर्थ—विकास की दृष्टियों से संस्कृत आचार्यो द्वारा की गई काव्य परिभाषाएं एवं लक्षण ही साहित्य की परिभाषा और लक्षण हिन्दी—काव्य—शास्त्र के क्षेत्र में मान्य किये जाते हैं। परवर्ती काल में, विशेषतः आधुनिक काल में काव्य परिभाषाएं एव लक्षण ही साहित्य की परिभाषा और लक्षण हिन्दी काव्य शास्त्र के क्षेत्र में मान्य किये जाते है। परिवर्ती काल में, विशेषतः आधुनिक—काल में 'काव्य' शब्द को मात्र कविता और उसके विभिन्न रूपों के लिए रूढ़ मान्य किया जाने लगा है।[48]

संस्कृत—काव्य शास्त्र के आचार्यो के मतो मे अर्थ—विकास की दृष्टियो से 'साहित्य' शब्द की परिभाषा का कमशः विकास मिलता हैं यो तो और भी अनेक काव्य—शास्त्री रहे होगें, संस्कृत में आचार्य भरत से पहले होने वाले काव्य शास्त्रो के नाम तो स्यात् यत्र—तत्र मिल भी जाते है, पर उनकी कतियों नितान्त उपलब्ध हैं। फिर भरत ने भी अपने नाट्य —शास्त्र या सूत्र में साहित्य शब्द की कोई स्पष्ट

48. सौदर्यबोध और कलह —राजेन्द्रबिस्ट —पृ0—26

एवं अलग परिभाषा प्रदान नही की हैं। हॉ, अपने पूर्ववर्ती आचार्यो की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए उन्होने अपने 'सूत्र' में साहित्य—कला की प्रशंसा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि— ''जिसकी रचना कोमल और ललित पदों में की हो, शब्द एवं अर्थ गूढ़ न हों, जन—सामान्य जिसे सरलता से ह्रदयांगम कर सके ओर जो तर्क—संगत हो—'' वही साहित्य है क्योंकि संस्कृत में 'नाट्य' को भी काव्य के अन्तर्गत ही माना गया है। अतः उपर्युक्त शब्दों में आचार्य भरत ने वास्तव में नाटक की ही प्रशंसा की है, फिर भी इसके गहन अध्ययन मनन के आधार पर हम साहित्य—सम्बन्धी उनकी धारणाओं का अनुमान सहज ही लगा सकते है। इसके विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही साहित्य सम्भ्रान्त वर्गो की वस्तु न रहकर जन सामान्य की वस्तु भी रहा है अर्थात जन—सामान्य के साथ साहित्य का सीधा सम्बन्ध रहा है। लोक—हित—साधन की उसकी स्थिति इस अर्थ में सफल एवं सार्थक मानी जाती रही है। 'साहित्य भाव' भी इस प्रकार की सर्जनाओं में इसी कारण आ पाता है। यहां पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जिसे हम 'सहित का भाव' कहते है, वह किसमे हुआ करता है ? सामाजिक और साहित्य के शब्दों में या शब्द और उसके अर्थ में इसका समाधान यह हो सकता है कि— ''क्योंकि साहित्य में 'शब्द' और उसके 'अर्थ' का ही सारा खेल रहा करता है, अतः इन दोनो में ही सहित —भाव रहना चाहिए : रहता भी

है।'' इसी में उसके अस्तित्व की सार्थकता है।

रस—सूत्र के प्रणेता आचार्य भरत के पश्चात आचार्य भामह ही वास्तव में वह पहले व्यक्ति हुए हैं जिन्होने 'काव्य' शब्द के अन्तर्गत 'साहित्य' शब्द को परिभाषित करने की ओर सर्वप्रथम सशक्त कदम उठाया। उन्होने कहा ''शब्दार्थो सहितौ काव्यम्'' अर्थात शब्द अर्थ से सहित रचना ही काव्य या साहित्य है। आचार्य भामह द्वारा प्रदत्त इस परिभाषा से ही 'सहित' शब्द लेकर परवर्ती और विशेषत': संस्कृतेतर भाषाओं के विद्धानों ने इसकी भाववाचक संज्ञा 'साहित्य' विनिर्मित कर ली।

तत्पश्चात संस्कृत काव्य—शास्त्र में आचार्य दण्डी आते है। इनके द्वारा प्रदत्त परिभाषा और लक्षण उपर्युक्त परिभाषा से प्राय:: मिलता—जुलता है। इनका कथन है कि —''इष्टार्थत्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्'' अर्थात इच्छित अर्थ का रूपायन करने वाली पदावली ही काव्य अथवा साहित्य हैं। इसी प्रकार आचार्य रूद्रट ने ''तन्तु शब्दार्थो'' कहकर अपनी परिभाषा प्रस्तुत की। इसी प्रकार संस्कृत के अन्य अनेक आचार्यो के मत और परिभाषाएं भी मिलती है। मूल रूप से उनमें आचार्य भामह द्वारा प्रदत्त परिभाषा का विस्तार ही हमें उपलब्ध होता है। वह अपने आप में सार्थक और महत्वपूर्ण हैं। संस्कृत—काव्य—शास्त्र में 'शब्द' और उसके 'अर्थ' को आधार बनाकर, इन दोनो के 'सहचर्य—भाव' को ही साहित्य या काव्य कहा गया

है वह उक्ति है– ''शब्दार्थयोर्यथावत्सह भावेन साहित्य–विद्या।'' यहां विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि इस परिभाषा में 'काव्य' शब्द का प्रयोग न करके साहित्य 'शब्द' का प्रयोग किया गया है, अतः निश्चय ही यह परवर्ती परिभाषा है और साहित्य के सन्दर्भ में अधिक सक्षम एवं युक्ति संगत भी है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि साहित्य 'शब्द' अपने ललितत्यानन्द के सीमित परिवेश में भी एक व्यापक आयाम से संयमित है। उसके अन्तर्गत शब्द एवं अर्थ के समग्र रूप समाहित हो जाते है 'वाडमय कहा गया है, वह सब यहां समाहित एवं अन्तर्हित हैं। (इस प्रकार हम साहित्य को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ज्ञान– राशि का संचित कोष' भी कह सकते है, भावन और भावित अर्थो में हम उसे मानव–मन की सहज भावोच्छलनों का चितेरा भी कह सकते है।

ऊपर की परिभाषा और लक्षण सम्बन्धी विवेचन साहित्य शब्द के अर्थ–विकास आदि से ही मुख्यतः सम्बन्ध रखता है। उसमें अपने सीमित परिवेश में 'ललित' का जो परिधान रहा करता है, वह नहीं आ पाया। अतः 'लालित्य' की दृष्टियों से भी साहित्य की परिभाषा पर संक्षेप में विवेचन कर लेना युक्ति संगत रहेगा।

ललित तत्व की दृष्टियों से आचार्य कुन्तक का मत विशेष दृष्टव्य है। उनका कहना है कि– 'शब्द एवं अर्थ का वह उचित (औचित्यपूर्ण) सम्मिलन ही साहित्य है जिसमे रमणीयता, मनोहारिता,

आनन्द भाव और रागात्मक तत्व विद्यमान रहा करते है।' निश्चय ही इस परिभाषा को हम एक ऐसी सीमा रेखा मान सकते है जो व्यापक एवं संकुचित अर्थो में साहित्य की रूप–रेखा को विलग करती है इनके अनुसार जो रमणीय होने के साथ मनोहारी भी है : आनन्द के सृजक रागात्मक तत्वों से सुन्दर– समन्वित है, वही साहित्य है। निश्चित रूप में ऐसी ही कृति साहित्य कही जा सकती या कही जाती है अतः हमारे मातानुसार–''विधायक साहित्य में मानव–मन की अतल गहराइयों में विद्यामान भावों को आन्दोलित कर एक सहज आनन्द की अनुभूति जाग्रत करने की अनन्त शक्ति रहा करती है यही शक्ति व्यापक साहित्य के अर्थ से, समूचे वाड़मय से विधायक साहित्य को अलग कर, उसे अपने विशिष्ट परिवेश में प्रतिष्ठित करती है।'' इस प्रकार का प्रतिष्ठापन जो भी शब्द–अर्थ या वाड़मय कर सकता है, वही साहित्य है। लोक में भाषित रूप में और सभ्य समाज में लिपिबद्ध रूप में इसी प्रकार का वाड़मय भावोच्छलनों के रूप में व्यक्त होकर सह्रदयों के आनन्द का कारण बनता आ रहा है।

यहां तक तो रही संस्कृत–आचार्यो के मतों की बात। अब अर्थ विकास को सामने रखकर पाश्चात्य आचार्यो ने ललित साहित्य (Liteture of Power) को परिभाषित करने के जो अनवरत प्रयत्न किये है ;उनमें से कुछ प्रमुख मतों पर दृष्टिपात कर लेना भी उचित रहेगा। सबसे प्रमुख और ध्यातव्य तथ्य यह है कि पाश्चात्य विद्वानो

ने साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषा करते समय जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टियों को स्पष्टतः अपने समक्ष रखा है। इसी कारण उनके द्वारा की गई परिभाषा–चर्चा में धर्म, नैतिकता, नीति एवं उद्देश्य आदि भी समाहित हो गए है।

पश्चिम में साहित्य (Liteture) शब्द का प्रयोग समूचे लिपिबद्ध वाड़मय के लिए किया जाता रहा है इसी कारण 'एन्साइक्लोपीडिया आफ ब्रिटेनिका' में दी गई परिभाषा साहित्य के उस व्यापक अर्थ की ओर ही स्पष्ट इंगित करती हैं। इसके अनुसार–"साहित्य अपने आप मे एक व्यापक शब्द है, सर्वश्रेष्ठ विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है और वह अभिव्यंजना लिपिबद्ध हुआ करती है।" इसी व्यापक अर्थ को ध्यान में रख करके ही अन्य पाश्चात्य विद्धानों ने भी साहित्य को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उनके परिभाषित लक्षणों में समूचे वाड़मय का कलेवर अन्तर्हित हो जाता है। एक अन्य परिभाषा इस प्रकार मिलती है अर्थात **"Literature is nothing more than the result of certain social forces"** अर्थात साहित्य अपने युग की समर्थ सामाजिक चेतनाओं की सशक्त अभिव्यक्ति हैं। पर हम इस परिभाषा को एक सर्वागीण परिभाषा नहीं कह सकते कारण स्पष्ट है; वह यह कि साहित्यिक अभिव्यंजनाएं एवं संदेश मात्र अपने युग तक ही सीमित नही रहा करते। वे युग–युगो की, देश काल की सीमाओं को पार

करके शाश्वत रूप में मानव–जीवन और मन को अनुप्रणित कर सकने की अद्भुत शक्ति अपने अन्तराल में संजोए रखा करता है। स्यात इसी ओर इंगित करते हुए पाश्चात्य कवि और विचारक मेथ्यु आर्नल्ड ने कहा था कि –''साहित्य उन्हीं विषयों को नही अपनाता है, जो अतीत हो चुके है, वह तो ऐसे विषय अपनाता है जो शाश्वत हुआ करते है।'' यह परिभाषा तो नही है, पर इससे साहित्य की महत्ता एवं उसके वर्ण्य–विषयों से परिचय तो एक सीमा तक हो ही जाता है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने **Literatere is the Mirror of society.** अर्थात साहित्य समाज का दर्पण या जीवन की व्याख्या है– ऐसा कहकर और अधिक स्पष्ट रूप में उसे परिभाषित करने की चेष्टा की है। इसी प्रकार अन्य अनेक विद्धानो के प्रयत्न भी कहे जा सकते है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक और मनोवैज्ञानिक फायड ने साहित्य को अतृप्त वासनाओ और अपूर्ण काम की तृप्ति का साधन स्वीकार किया है। इसके साथ–साथ उसने साहित्य को सृजनात्मक वासनाओं को उत्प्रेरक भी कहा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ये या इसी प्रकार की अन्य परिभाषाएं साहित्य के व्यापक अर्थ और परिवेश को ही अधिकांशतः रूपायित एवं उजागर करती है।

(ग) साहित्य के सामाजिक सरोकार–

पवित्र सामाजिक परम्पराएं ही मिथक है जो संस्कृति में अन्तरनिगूढ़ तत्वों का उदघाटन करती है। वस्तुतः परम्पराओं के माध्यम से ही मानवीय विश्वासों कियाअनुष्ठानों तथा नैतिक आचरण की पद्धतियों की अभिव्यक्ति होती है।[41] साहित्य का समाज से गहरा सम्बन्ध है बिना समाज के न साहित्यकार सम्भव है और न साहित्य। जिस समाज में साहित्यकार का जन्म होता है साहित्यकार की रचनाएं उस समाज से ओत– प्रोत रहती है । एक समय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा था यद्यपि इस कथन में साहित्य और समाज की अन्तरंगता व्यक्त होती है तथापि यहां यह कहना अभीष्ट है कि दर्पण जड़ होता है वो वहीं कुछ दिखा पाता है जो उसके समक्ष है किन्तु साहित्य केवल खण्ड़ित यथार्थ का प्रत्यक्षीकरण नही करता बल्कि कल्पना सज्जित आदर्श के आलोक मे वो भी प्रस्तुत करता है जिसे होना चाहियें। साहित्य अपने सृजन धर्मी प्रवाह मे समाज की बहुआयामी धाराएं समेटे हुए है। साहित्य में परिवेश गत यथार्थ की अभिव्यक्ति तो होती ही है, मूल्यवादी और नैतिकता से युक्त संस्कार प्रदान करने का लक्ष्य भी काव्य–धर्म है।

व्यक्ति और समाज एक दूसरे से घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध होते है, व्यक्ति और समाज मे किसका स्थान मुख्य है, तथा किसका गौण है– ये प्रश्न भ्रामक है, क्योंकि व्यक्ति और समाज परस्पर

---

41. काव्य अर्न्तयात्रा–विश्वनाथ प्रसाद–पृ0–50

अन्योन्याश्रित है। साहित्य का आधार जीवन है। इस नींव पर साहित्य की दीवार खडी है। साहित्यकार जीवन से दूर नही भाग सकता अतः जीवन की अतिकूलता और प्रतिकूलता उसके साहित्य में आयेगी ही। अतः व्यक्ति और समाज –दोनो की तस्वीरे साहित्य मे परिलक्षित होती है।[50]

यह एक सच्चाई है कि कविता असलियत से सीधा साक्षात्कार करती हुई वो जिन्दगी से जुडे अनेक सवालो का वाजिब उत्तर ढूढंने के क्रम में साहस का परिचय देती है। समकालीन कविता में ये तथ्य और भी सच्चाई से मुखरित हुआ है। अब समकालीन कविता काव्येतिहास का एक महत्वपूर्ण इतिहास है। यद्यपि यह आज जीवन्त काव्य धारा के रूप में प्रवाहित है। समकालीन कविता के प्रवाह से जुडी प्रख्यात धारा नयी कविता अपनी बदलती हुयी मुद्रा की परख के लिए आलोचना के लिए नये तेवर और प्रतिमानो की मांग करती है क्योकि अभी भी कुछ आलोचको का रूख नयी कविता के प्रति अवज्ञा और विरोध का है।

नई कविता काव्य–इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। यद्यपि यह आज जीवन्त काव्य–धारा के रूप में प्रतिष्ठित है, फिर भी नई कविता अपनी बदलती हुई मुद्रा की परख के लिए आलोचना के नये तेवर और प्रतिमानों की मांग करती हैं। क्योंकि अभी भी कुछ आलोचकों का रूख नई कविता के प्रति अवज्ञा और विरोध का है।

---

50. हिन्दी काव्यः युगीन संदर्भ –डॉ0 सुभद्रा वैण्णकर–पृ0–19

उनकी मानसिकता रोटी, हड़ताल और राजनीति को कविता का विषय मानने से इन्कार करती रही है। यदि बदले हुए सामाजिक सोच विचार के कारण कविता का मगज—मिजाज भी परिवर्तित होता है तो इसकी भूमिका के अनुरूप ही आलोचना के मूल्यो एवं मानदण्डो मे भी बदलाव आना चाहिए। युग की नब्ज की पकड़ यदि रचनाकार के लिए अनिवार्य है तो आलोचको में भी इस परिवर्तन के तत्वों की तमीज चाहिये।....[51]

51. नई कविता : कथ्य एवं विमर्श —डॉ0 अरूण कुमार पृ0—1

पंचम - अध्याय

आधुनिक कविता में मिथकीय विधान

(घ) सत्यम् शिवम् सुन्दरम् और साहित्य –

सौंदर्य के परिप्रेक्ष्य में भारतीय मनीषा ने सैद्धान्तिक धरातल पर सौंदर्य को मात्र सतही दृष्टि से नहीं देखा। जो सौन्दर्य सत्य को नहीं सह सकता, सौन्दर्य शिव संयुक्त नही, हो सकता। वस्तुतः भारतीय अभिमत दार्शनिक दृष्टिकोण रखते हुए भी आध्यात्मिक मान्यताओं के प्रति समर्पित है–यह प्रतीत कैसे हो ! भरतीय मनीषा ने सत्य की प्रतीति का माध्यम शिवत्व को चुना और पाया कि वह है इसका आभास, इसका अनुभव व इसकी अनुभूति तभी होगी जब वह शिव रूप में स्वयं को प्रकट करेगा। जब तक सत्य स्वयं को सर्वकल्याण के रूप में अवतरित नही करता तब तक सत्य की सत्ता अदृश्य–सी रहेगी। भावगत सत्ता अर्थात ब्रह्म की सर्वाधिक आकर्षक विभूति है, तो वह है–सौंदर्य की इसी रूप में उपासना की है। उसने कण–कण में अद्‌भुत 'सुन्दरम्' के दर्शन किये है। 'सत्य' जहां भारतीय संस्कृति का कारण रूप 'शिव' उसका सूक्ष्म रूप तथा 'सुन्दरम्' उसका स्थूल रूप होता है भारतीय सिद्धान्त के अनुसार सौंदर्य स्वयं मं सत्य से पृथक कोई सत्ता नहीं है। इसी प्रकार सौंदर्य को शिव से भी पृथक नहीं किया जा सकता है। 'शिवम्' और 'सुन्दरम्' वास्तव में सत्य की ही अभिव्यक्ति है सत्य के अभाव में न तो शिव ही हो सकता है और न ही सुन्दरम। यदि थोड़ा और गहराई में झॉके तो भारतीय मनीषा की अनुभूति केवल यही है कि 'सत्यम्',

'शिवम्' 'सुन्दरम्' तक ही सत्ता के तीन रूप है।

चूंकि सौदर्य 'सत्य' व 'शिव' का संवाहक है क्योंकि कारण और सूक्ष्म शरीर अदृश्य रहकर स्थूल शरीर के माध्यम से अपनी सत्ता प्रकट करते है– इसलिये सत्य और शिव की तीव्रानुभूति सुन्दरम् के रूप में अभिव्यक्त होकर कला की संज्ञा में प्रतिष्ठित होती है। कुछ अपवादों को छोड़कर भारतीय कला साधना सुन्दरम् के माध्यम से सत्य और शिव की अभ्यर्थना–पद्धति है। रीतिकाल जैसे कतिपय कालखण्डों के बीच से भारतीय (हिन्दी) साहित्य को गुजरना पडा है, जहां सत्य शिव को नकार कर मात्र सुन्दरम् की निष्प्राण साधना की गई हैं। जहां तक कला के सम्बन्ध में भारतीय अभिमत का प्रश्न है–'सत्य' और 'शिव' का प्रवाह 'सुन्दरम्' को पुरस्कृत करता हुआ त्रिवेणी बन जाता है। पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है कि सौंदर्यानुभूति तीव्र होकर अभिव्यक्ति के लिये जब छटपटाती है, तब कला का उद्भव होता है। अभिव्यक्ति ही कुशल शक्ति ही कला है।[52]

उपर्युक्त विविध भारतीय अभिमतों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि सौदर्यानुभूति अभिव्यक्त होकर कला बन जाती है। कला का उद्देश्य मानव मात्र का हित साधन है। यह हित कला के माध्यम से कला–रसिको को आनन्द के रूप में प्राप्त होता है। आनन्दात्मक रसानुभूति मन तथा भावों का परिष्कार कर उन्हें

---

52. अष्टकाव्य के कवियों की सौन्दर्यनुभूति डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद –पृ0–2

उदात्त और निर्मल बना देती है। मन की यह निर्मलता तथा व्यक्तित्व की उदात्तता कला प्रेमियो को उस बिन्दु तक ले जाती है, जहां सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के रूप में मानवीय सम्पूर्णता का दर्शन होता है। सम्पूर्ण विश्व के मूल में एक अन्तर्निहित चेतना है जो व्यक्ति में व्यक्तिनिष्ठ रूप में तथा अपनी बाह्‌य अभिव्यक्ति में वस्तुनिष्ठ रूप में व्याप्त है। वह अपने में पूर्ण होती हैं। इसकी यह पूर्णता से सौंदर्य प्रदान करती है अर्थात जो पूर्ण है वही सुंदर है। उसे सर्वव्यापी अनन्त ब्रम्ह के सामजस्यपूर्ण अंग की अभिव्यक्ति भी माना गया है। सौंदर्य दर्शन में एक अद्‌भुत अनुभूति होती है, जो व्यक्ति को तर्क, तृष्णा, व्यामोह आदि के जाल से निकाल कर बन्धन–मुक्त बना देती है। जीवन में अनेक समस्याये है, कठोरताए है, दु:ख और संघर्ष की आद्यान्त व्याप्ति है। सौंदर्य और उसकी अभिव्यक्ति कला, और उसकी अभिव्यक्ति कला, व्यक्ति को इन्हीं कठोरताओं से दूर भुलावा देकर ले जाती है। वहीं व्यक्ति को आनन्द और शान्ति की प्राप्ति होती है। इसके दिव्य पालने में झूलकर व्यक्ति जीवन की विषमताओं से मुक्ति पाता है। सौंदर्य की परिपूर्णता तब है जब बोध के साथ व्यक्ति का चित्र आनन्दमय धरातल पर पहुंच जाय। सौंदर्य बोध की प्रथम स्थिति वह है, जहां दर्शनो परान्त व्यक्ति को सौंदर्य का प्रथम परिचय मिलता है। इसकी चरम परिणति या पूर्णता उस स्थिति में पहुंचकर होती है, जहां व्यक्ति के चित्र में सौंदर्य का समावेश होता है।'

भारत का प्राचीन चिन्तन आनन्द की परम् स्थिति की प्राप्ति पर बल देता है। दर्शन से प्रयूत 'सच्चिदानन्द' शब्द भी इसी अर्थ को प्रतिपादित करता है। मनुष्य अपनी शारीरिक, मासिक, भौतिक, आध्यात्मिक— सभी प्रवृत्तियों के माध्यम से अपने किसी अभाव की पूर्ति करना चाहता है। वस्तुतः सब आनन्द का अन्वेषण है। सहज आर्कषण, सहज सौंदर्य और आत्मा की सहज आनन्दवृत्ति ही सच्चिदानन्द का स्फुरण व्यापार है। विश्व का संचरण भी इसी पर निर्भर करता है और यही सच्चिदानन्द अन्तिम कोटि का लक्ष्य सिद्ध भी है।

सौंदर्य शास्त्र में सौंदर्य की दार्शनिक व्याख्या मिलती है। सौंदर्य रूपाश्रित है। सृष्टि में रूप के बिना सौंदर्याभिव्यक्ति संभव नहीं है। वस्तुतः सौंदर्य की स्थिति मानव मन की कल्पना में होती है। सृष्टि के सौंदर्य को अस्वीकार करने वाले सौंदर्यशास्त्रियों की धारणा है कि यदि सृष्टि में सौंदर्य का दर्शन होता है, तो वह सौंदर्य बोध संस्कारों पर आधरित होता है। सौंदर्य आनन्द का धनीभूत निष्कर्ष है। चूंकि सौंदर्य इन्द्रिय—बोध पर आधारित होता है, अतएवं इन्द्रियों के सुरूचि सम्पन्न मन के आधार पर सौंदर्य बोध का आग्रही पक्ष प्रकाश मय होगा।[53]

53. बच्चन के काव्य की सौन्दर्यानुभूति डॉ0 माधुरी शुक्ला—पृ0—22

पंचम अध्याय

आधुनिक कविता में मिथकीय विधान

(1) प्रिय प्रवास –

'प्रिय प्रवास' का कविता के इतिहास में महत्व इसलिए है कि बड़े साहस के साथ हरिऔध ने खड़ीबोली को अपने काव्य की भाषा बनाया और राधाकृष्ण के मिथकों को मध्यकालीन बोध से काफी हद तक मुक्त करके एक बौद्धिक धरातल देने की चेष्टा की। द्विवेदी युग की बौद्धिकता आदर्शवादी तत्वों से संयुक्त थी। इसलिए उससे कोई बड़ी आशा करना व्यर्थ होगा, किन्तु इसने रूढ़िग्रस्त सामंती पंरम्पराओं का डटकर विरोध किया और मानवतावाद का ही चुनाव किया था एवं इसी परिप्रेक्ष्य में सामाजिक सुधारमूलक आदर्शो की प्रतिष्ठा की थी। इसके आदर्श समस्याओं की भाववादी समझ पर आधारित थे। इसलिये हम उन्हें आदर्शवाद की विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक सुधारमूलक आदर्शो की प्रतिष्ठा की थी। इसके आदर्श समस्याओं की भाववादी समझ पर आधारित थे, इसलिए हम उन्हें आदर्शवाद की विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में देखते है। भारतीय समाज के राजनैतिक सांस्कृतिक जीवन में आदर्शवाद की एक भूमिका थी और स्वीकार करना पडेगा कि नवोत्थान का भी अपना योगदान था।

राष्ट्रीय पूंजीवाद के विकास से आदर्शवादी विचारधारा का इतिहास संयुक्त था। इसलिए समाज में एक नयी संस्कृति की आवश्यकताओं के तहत राजनैतिक स्वाधीनता और नारी स्वाधीनता दोनों की चर्चा बढ़ गयी। अंग्रेजी साम्राज्यवाद का अत्याचारी स्वरूप अंकित होने लगा और नारी ने घर से निकलकर जैसे ही लोकसेवा की तरफ कदम बढाया, परंपरारागत सामाजिक ढांचे में चरमराहट नजर आयी। नारी की अग्रगामिता के दो स्वरूप थे। एक स्वरूप था पश्चिम से मिलता जुलता, जिसका राष्ट्रीय आदर्शवादियों ने उग्र विरोध किया और एक दूसरा स्वरूप था नैतिक परंपराओं से पोषित आदर्श भारतीय नारी का, जो द्विवेदी युग के सुधारवादी क्षेत्रो की कल्पना थी। अक्सर सम्पन्न घर की महिलाएं दीन दुखियो की सेवा में निकलने लगी थी। प्रियप्रवास की राधा कुछ ऐसे संकेत देती है और आधुनिक भारतीय नारी के आदर्शवादी जीवन का कुशल चित्र उपस्थित करती है।

कृष्ण के मिथक को ऐसे संस्कारो के बीच से बाहर निकालना जिनमें सुमिरन के बहाने रीझि की कविताई का बोलबाला था, अथवा इससे पहले लीला और प्रेम की श्रृंगारिकता का मध्यकालीन सौंदर्यबोध हावी था—कम कठिन काम नहीं था। ऐसे प्रेम मिथको में कृष्ण का राजनीतिक व्यक्तित्व धूमिल हो गया था। 'महाभारत' ने कृष्ण को युद्ध संत्रस्त मानवीय जीवन की आस्था के एक जीवित प्रतीक के रूप में जो विराट स्वीकृति दी थी, वह स्वीकृति

मध्यकाल में विलुप्त हो गयी थी। कुछ राक्षसों का वध अथवा चमत्कारी कार्य करने वाले के रूप में ही राजनैतिक कृष्ण की पहचान होती थी। उपभोगपरक आध्यात्मिक मिथक काल (श्रृंगार) में कृष्ण राधा के प्रेम की श्रृंगारिक अभिव्यक्ति ने कविता संरचना की पद्धतियों को सामाजिक संस्कृति के सृजनात्मक द्वंद्व की धारा से अलग करने में पर्याप्त सफलता हासिल कर ली थी। उसने सामाजिकता की चेतना से न जुड़कर वैयक्तिक विलास की मध्यकालीन कला को प्रश्रय दिया था, जबकि उपलब्धिपरक आध्यात्मिक मिथक काल (भक्ति) में कविता व्यापक जन लगाव रखती थी, क्योकि स्वतंत्रता के मूल्यों को पहचानने की कोशिश कृष्ण राम दोनों के भक्त कवियों ने की थी। श्रृंगारिक कविताओं में जन साधारण पूर्णतया अनुपस्थित रहा। कविता सामंतवादी आचरण का प्रतीक बनकर रह गयी। उसमें लोकपक्ष का सर्वथा अभाव हो गया। प्रियप्रवासकार को इसी वजह से अपनी परंपरा से काफी संघर्ष करना पडा। खड़ी बोली को माध्यम बना लेने के बावजूद रूढिग्रस्त परंपरा से संपूर्ण वेग को रोकने की ताकत कविता में नहीं आ पायी थी। इसलिए श्रंगारिक प्रेम का काफी बडा हिस्सा साफ सुथरा होकर नैतिक प्रतिमानों के चंदन तिलक के साथ 'प्रियप्रवास' में प्रवेश पा गया। कृष्ण मिथक में समकालीन जीवन की आदर्शवादी भावना भी प्रविष्ट हुई। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि प्रिय प्रवासकर ने कृष्ण के पूर्व प्रचलित चरित्र में अमूल परिवर्तन कर, उन्हें समाज

सुधारक, लोकसेवी, जाति उद्धारक, विश्वप्रेमी, एवं निःस्वार्थ नेता के रूप में चित्रित किया है। 'प्रियप्रवास' की समस्त उपकथाओं की सार्थकता कृष्ण के इसी रूप की व्यंजना में है। यह रूप कितनी व्यापकता से उभर सका, यही विवेचित करना है।

कृष्ण शताब्दियों से भारतीय लोक आस्था के एक असरदार केंन्द्र रहे है। प्रेम तथा राग की मानवीय भावनाये कृष्ण के मिथक से बनी है। कृष्ण की मिथकीय कथा महाभारत तथा पुराणों में बृहद पैमाने पर मिलती हैं हरिवंश पुराण के विष्णु पर्व में कृष्ण के जन्म से उनके द्वारकापुरी जाने तक का वर्णन है। गोकुलग्राम कृष्णकेन्द्र की रागात्मक धुरी है, जिसमें कृष्ण लीला सहचर है। द्वारिकापुरी कृष्ण केन्द्र की राजनीतिक धुरी है, जिसमे वह कुशल क्षत्रिय और मुक्तिकामी सामाजिक नेता है। मध्यकाल में द्वारिकापुरी के कृष्ण का चरित्र गौण हो गया। ब्रम्हवैवर्त पुराण में राधा के महत्व एवं उनकी गरिमा का वर्णन है। कृष्ण के युवाकाल तक की लीलाओं की भी कथा है। उसमे उद्धव राधा संवाद तथा भक्ति तत्व का दार्शनिक विवेचन भी है। वामन पुराण में केशी के वध तथा गरूढ़ पुराण में पूवनावध, कालियदमन, गोवर्धनधारण इत्यादि की कथाओं का वर्णन है। कृष्ण के मिथक की लीला भावना वीरता तथा चमत्कारपूर्ण कार्यो के समान्तर विकसित हुई। कृष्ण के अद्भुत व्यक्तित्व में सभ्यता की विकृतियों पर विजय तथा भावनापूर्ण नयी संस्कृति की चीजे समाहित है। पूतना के विकृत

मातृत्व का निरंतर स्तनपान से दमन कर तथा कालीदह (ब्रज के समीप यमुनाजल का एक सरोवर) में कामविकृति के प्रतीक विषाक्त कालियनाग का दमन कर कृष्ण ने जो चमत्कारपूर्ण कार्य किये, वे मानव संस्कृति में विकृतियों, को दूर करने के प्रयत्नों के ही मिथकीय प्रतीक है। गोपिकाओं के लीला सहचर का संबंध ऐसे ही व्यक्तित्व से स्थापित हो सका, जो मुक्त भावनात्मक संस्कृति का रचनाकार था। उसकी अभिव्यक्ति मध्यकालीन कविता में लुके—छिपे प्रेम के रूप में हुई। कृष्ण के प्रेम तथा परिवार के मिथको ने मानवीय संबंध की परंपरागत संरचना को तोड़ा तथा लीला रूप ने मुक्त सामाजिक संबंधो की फंतासी निर्मित की। यहां प्रेम तथा काम की समस्याओ के निदान का वैश्विक और प्राकृतिक रूप ही नहीं मिलता, नये मानवीय संबंधो की पहचान भी मिलती है।

कृष्ण की लीला फंतासी ने मध्ययुग में विराह तथा श्रृंगार की अमित संभावनाओं को जन्म दिया। 'प्रियप्रवास' में यह लीला फंतासी परिष्कृत होकर द्विवेदी युग की पृष्ठ भूमि में आदर्शवादी चेतना में बदल जाती है। प्रेम तथा विरह के मध्य लोककल्याण तथा न्याय का मिथक विकसित होने लगता है। कृष्ण जरासंध के अत्याचारों से पीड़ित जनसाधारण को न्याय दिलाने के लिए मुक्तिकामी योद्धा के रूप में द्वारिकापुरी जाते है। राधा सेवा—शुश्रुषा तथा सामाजिक हित में लग जाती है। इस तरह कृष्ण के मिथक को आधुनिक युग में

मध्ययुग से भिन्न एक नया संदर्भ मिलता है।

हरिऔध ने कालियनाग के माध्यम से देश में बढ़ते अत्याचारों की ओर संकेत किया। अतिवृष्टि से त्रस्त जनसाधारण की मुक्ति के लिए अंगुली पर गोर्वधन पर्वत रखने–वाले, कठिन श्रम तथा क्लांतिहीन धैर्य के प्रतीक कृष्ण की सेवा भावना को भी उभारा। कालियनाग ब्रिटिश अत्याचारों का प्रतीक था। ब्रिटिश शासन का दमन करने की ही नहीं, उसे उखाड़ फेंकने की समस्या राजनीतिक सांस्कृतिक स्तर पर थी, पर स्वतंत्रता के मूल्यों के प्रति हरिऔध उतने संचेत नहीं थे। कालियादमन प्रंसग में वह इतना ही कहते है–

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा
विर्हगंणा देख मनुष्य मात्र की
हितेषणा से निज जन्मभूमि की
अपार अपार हुआ ब्रजेश को।[54]

'ग्रीक' मिथक शास्त्र के 'हिराकल्स6 ने 'हिद्रा' नाम के अत्याचारी नाग का दमन ही नहीं किया, इसे समाप्त कर दिया था। वेणुनाद से कृष्ण ने कालिया को समाप्त नहीं किया, इसका दमन किया। नाग को कवि ने जातीय दुर्दशा के रूप में अंकित किया तथा इस पर नियंत्रण पाने के लिए युक्ति, अदम्य शक्ति एवं धैर्य की जरूरत बतायी। मिथकीय संकेतो में अपनी आदर्शवादी छटपटाहट उन्होने इस प्रकार व्यक्त की–

---

54. प्रियप्रवास–हरिऔध–पृ०–

विपत्ति से रक्षण सर्व भूत का
सहाय होना असहाय जीव का
उबारना संकट से स्वजाति का
मनुष्य का सर्व प्रधान धर्म है।[55]

कवि को जातीय संकट का बोध है। वह प्राकृतिक चित्रों के साथ मुख्यतः इसी संकट को प्रतीकीकृत करता है। उसने कृष्ण को जननेता के रूप में स्थापित किया है। राष्ट्रीय सामाजिक संकट कई फनों का अति ही भयावना रूप था। इसकी अभिव्यंजना भारतीय नवोत्थान की पृष्ठभूमि में हुई। कृष्ण का नवोत्थानवादी आकर्षण व्यक्तित्व ही नयी राधा के प्रेम का केंद्र था।

आर्य देवमंडल के देवता इंद्र घनघोर वर्षा करते है। कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत धारण करके वर्षा रोकने की कथा सामाजिक जीवन से वैदिक देवताओं की प्रभावहीनता तथा कृष्ण के मिथक की विकसित हो रही सामाजिक भूमिका की ओर संकेत करती है। इस कथा के मूल में वैदिक देवताओं की पराजय और पौराणिक देवताओं के उदय का इतिहास है। 'प्रियप्रवास' में वर्षा के प्रकोप से ब्रजवासी त्रस्त थे। कृष्ण ने अपने सखाओं के साथ धैर्यपूर्वक राहत कार्य किये। गिरिकंदराओं में सबको आश्रय दिया तथा अपना सुप्रंबध बनाये रखा। वर्षा खत्म हुई ब्रज फिर से बसा अंगुली पर गोवर्धन कर आधुनिक काल की कविता ने तार्किक ढंग को किस तरह सराहा और उस

55. प्रियप्रवास–हरिऔध–पृ०–

कथा—प्रंसग को पुनः उपस्थित किया, देखें—

प्रति दरी प्रति पर्वत—कंदरा।
निवसते जिनमें ब्रज लोग थे,
वहु सु—रक्षित थी ब्रजदेव के
परम यत्न सुचारू प्रंबध से।
सकल लोग लगे कहने उसे
रख लिया उंगली पर श्याम ने।[56]

प्रियप्रवासकार ने अपनी सीमा के भीतर कृष्ण के मिथक की आधुनिक पहचान की है। अलौकिक घटनाधर्मिता और मध्य—कालीनतावाद की छंटाई कर उसने कृष्ण को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया हैं उच्च नैतिक आदर्शो उसकी संगति बैठायी हैं, जिस वजह से उस का स्तर उपदेशात्मक हो गया हैं। भागवत की दावानल की कथा में गाये वनाग्नि से घिर गयी थीं। गो,गोप और ग्वालों को भयत्रस्त देखकर कृष्ण अपनी माया से अग्नि पी गये वो अग्नि दूसरे वैदिक देवता है, जिनके देवत्व को कृष्ण के समक्ष फीका दिखलाया गया। सामाजिक संरचना के विकास में सत्ता के लिए मिथक शास्त्रीय संघर्ष प्रत्येक संस्कृति में चला था। हरिऔध ने उपर्युक्त प्रंसग को सहज मिथकीय आधार प्रदान करते हुए लिखा—

स्वसाथियों की देख दुर्दशा—प्रचंड दावानल
में प्रवीर से।

---

56. प्रियप्रवास—हरिऔध—पृ0—

स्वयं फंसे श्याम दुंरत वेग से, चमत्कता
सी वनभूमि को बना।
प्रवेश के बाद संवेग ही बढें, समस्त
गोपालक बेनु संग में।[55]

आग से घिरी गायों तथा ग्वालों को युक्तिपूर्वक कृष्ण ने निकाल लिया। हरिऔध ने पुरानी चमत्कारपूर्ण घटनाओं का हल नयी युक्ति से निकाला। इसका संकेतित अर्थ यह है कि देश भी अपने राष्ट्रीय, सामाजिक संकट से उबर सकता है, पर किसी युक्ति एवं कृष्ण जैसे नायक की जरूरत है उन्होने एक खास मतलब से कृष्ण को लोक पुरूष के रूप में उपस्थित किया। सामाजिक, राजनैतिक न्याय की स्थापना के लिए उन्होने कृष्ण से अत्याचारी कंस का वध कराया। कंस संचयकर्ता, पूंजीवादी, तानाशाही, प्रवृत्तियों का प्रतीक था। कृष्ण को विभिन्न संकटो के मध्य से साहसपूर्वक गुजरता दिखलाकर कवि ने उन्हे जनता के राजनैतिक मुक्तिदाता के रूप में चित्रित किया। 'प्रियप्रवास' की यही विशिष्टता इसे आधुनिक बनाती है।

राधा कण-कण में कृष्ण का बाह्य चित्र नहीं देखती। उपरोक्त नयी मिथकीय छवि की अनुभूति करती है। राधा का कृष्ण से गहन प्रेम उसे व्यक्तिगत पीड़ा और वेदना से ऊपर उठाकर उदात्त रोमानी स्तर पर लोकसेवा की ओर प्रेरित करता है। राधा का कृष्ण

55. प्रियप्रवास–हरिऔध–पृ०–

के प्रति प्रेम सखा भाव से शुरू होता है, तदनंतर गहनता प्राप्त कर लेता है। 'प्रियप्रवास' में हाल ही गाथा सप्तशती अथवा पंचतंत्र की राधा नहीं है। 'राधेत्येयं संसिद्धा राकारो दानवाचकः' (ब्रह्मवैवर्त्तपुराण) में राधा सम्यक् और नित्य स्थिति की द्योतक है। पं0 बलदेव उपाध्याय ने (रा=) दान और (धा=) आदान से राधा को निर्वाण की दात्री बतलाया है। (रा=) राम में स्थिति तथा (धा=) धारण से रास में विद्यमान रहने एवं कृष्ण को आलिंगन देने के कारण ही वह श्रीमती राधा के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में राधा की विरह वेदना का अत्यंत भावुकतापूर्णक चित्र है। जयदेव ने राधा को उद्दाम प्रेमभाव के साथ चित्रित किया है। विद्यापति एवं चंडीदास दोनो ही उसके उग्र विरहणी पक्ष का चित्र खींचते है। चंडीदास की राधा में मानसिक सौंदर्य अपनी चरम सीमा तक पहुंचता हैं|विद्यापति की राधा में शारीरिक सौंदर्य उग्र श्रृंगार की परिणति पर पहुंच जाता है। सूरदास ने इन सभी कवियों से भिन्न शैली तथा भावभंगिमा से राधा को अपनी भक्ति के आधार पर ऐसी मुक्त नायिका के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमे मर्यादित श्रृंगार का संस्पर्श हैं रीति कालीन पंक में डूबी राधा से भिन्न 'प्रियप्रवास' की नायिका उज्जवल प्रेम का प्रतीक होने के कारण व्यापक सेवा भावना के साथ प्रस्तुत हुई। हरिऔध ने आदर्श भारतीय नारी के गुणों का उसमे आरोपण किया एवं उसके सौंदर्य–बोध के भीतर आदर्शवाद की स्थापना कीं उन्होने राधा को ऐसी

संस्कारशील भारतीय नारी के रूप में चित्रित किया, जो शकुन, व्रत, मनौतियां, पूजापाठ आदि करती है। फिर उन्होने उसकी आस्थाओं को उदात्त सामाजिक स्वरूप भी दिया ताकि लगे कि राधा के माध्यम से जिस नारी का ही प्रक्षेपित रूप है। राधा का बालक्रीडा के समय उमगा प्रणय सात्विक प्रेम की ओर बढने लगा। प्रेम तथा सौंदर्य दोनो के ही आदर्शीकरण के कारण वह 'स्त्रीजातिरत्नोपमा' बन गयी। वह कृष्ण के प्रेम की गहनता में डूब गयी और निकलकर बाहर आयी तो सामाजिक सेवा भावना से रंगी हुई थी। प्रिय प्रवासकार के आदर्शवाद में मुक्त प्रेम की भावना अंट नहीं सकी, इसलिए विधिवरण की कामना के माध्यम से उसने सामाजिक स्वीकृति का विधान बनाया। प्रेमासक्त राधा को छोड़कर कृष्ण का मथुरागमन एक ओर नियति का खेल था, दूसरी ओर इनके व्यक्तित्व के विकास का सामाजिक संदर्भ भी। प्रणय की मधुरमूर्ति राधा सामान्य नारी की भांति अतिशय विरह तथा भावी आशंकाओं के मध्य अकेली छूट गयी। वह आत्मनिर्वासित सी महसूस करने लगी। वियोग के क्षणों में उसे प्रेम की सर्वाधिक गहरी अनुभूति हुई—

यह सकल दिशायें आज रो—सी रही है।
यह सदन हमारा है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नही है।
विजन विपिन में है भागता सा दिखता। [56]

---

56. प्रियप्रवास—हरिऔध—पृ0—

दुखी राधा के साथ समस्त ब्रजवासी दुखित थे। वे कृष्ण के मथुरा गमन के समय रथ का चक्र पकडकर बैठ जाते है। और अपनी लोकतांत्रिक भावना का उदाहरण उपस्थित करते है। धूप अधिक चढ़ जाने के कारण लाल (कृष्ण) को आंच लग जायेगी, मात्र इतना कहकर आदर्शवादी हरिऔध लोकमत से छुट्टी पा लेते हैं कृष्ण के चले जाने के बाद समूचा ब्रज वियोग के गहरे समुद्र में डूब जाता है और रोजमर्रा के जीवन कर्मो के बीच भी लोग प्रवासी कृष्ण के जीवन की खोज खबर लेते रहते है। राधा के मन में भी उनकी नयी श्यामली मूर्ति छाया हैं। कालिदास के 'मेघदूत' की परंपरा में 'प्रियप्रवास की राधा भी पवन को अपनी भावनाओं का दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजती है। यह प्रसंग रीतिकालीन हो गया हैं राधा प्रेमासक्त भाव से अपने अतीत का स्मरण करती है। उद्धव आते है। भारतीय काव्यात्मक संस्कृति में ज्ञानमार्ग का मुक्त प्रेम से सर्वदा संघर्ष रहा है। वह जीवनधारा जिसने ज्ञान तथा दर्शन को अनुभूति के स्तर पर पचा नहीं लिया, हमेशा उपेक्षित रही है। उधर कृष्ण अपने युग की आकांक्षा के अनुरूप सामाजिक कार्य में संलग्न रहते है और उधर राधा अपनी मनोत्यथा में डूबी रहती है। राधा के व्यक्तित्व में परिवर्तन आता है, जब उसकी वेदना सृजनात्मक होकर लोकसेवा में विकसित हो जाती हैं।

'प्रियप्रवास' का एक बड़ा दोष है कि राधा पाठक से जिस

प्रकार सीधे जुड़ी रहती है, कृष्ण सीधे नहीं जुड़े होते। उनके कार्य और विचार अन्य माध्यमों से ज्ञात होते हैं। कृष्ण तथा पाठक के बीच कभी कोई वृद्ध व्यक्ति कभी कवि स्वयं। वर्णित कथा मिथक की सबसे बड़ी बाधा है। राधा मनोभावों की सतह पर कुछ स्वछन्द होने की चेष्टा करती है। कृष्ण वर्णित कथा मे अवरूद्ध से लगते है। कृष्ण का इतिवृत्त कविता के स्तर पर प्रभावशाली सिद्ध नही होता। 'प्रियप्रवास' में वर्णनात्मकता के कारण काव्य के ढांचे का अतिशय विस्तार हो गया, पर उसके भीतर की काव्य वस्तु काफी सीमित हो गयी। प्राकृतिक दृश्यों के साथ विरह का रसदीर्घ वर्णन पूरे कलेवर मे फैल गया, जिससे उसकी मार्मिकता फीकी पड़ जाती है। कवि का एक उद्देश्य यह रहा है कि कृष्ण के असंभव कार्यो को बुद्धिसंगत ढंग से संभव दिखलाकर वह भारतीय मानस में लीला की फंतासी के समानांतर एक राजनैतिक जनपुरूष का यथार्थ चित्र अंकित करे। वह जनपुरूष का यथार्थ चित्र अंकित करे। वह जनपुरूष नवोत्थानवादी आदर्शो की प्रतिच्छवि हो। कवि ने कृष्ण के लीला सहचर रूप की जगह जनसेवी और विश्वप्रेमी रूप का अंकन किया। दूसरी ओर राधा ने श्यामली मूर्ति के भीतर कृष्ण के युगानुरूप नये राजनैतिक मिथक को पहचाना। उसने भी अपना मध्यकालीन चरित्र खत्म कर सामाजिक कष्टों को पहचानना शुरू किया और वैयक्तिक जीवन समाज को समर्पित कर दिया।

घनानंद की नायिका हरि को पाने के लिए ''धरती में धंसौं कि आकासहिं चीरौं'' की भावोन्मत्तता में डूबी थी। हरिऔध की राधा अपने को कृष्णबोध के आधुनिककरण की प्रकिया से संयुक्त करती है। एक तरफ वह सोचती है–'होते मेरे अबलतन में पक्ष जो पक्षियों से तो यों ही मैं समुद्र उड़ती श्याम के पास जाती।' दूसरी तरफ वह अपने भीतर एक गहन तनाव झेलते हुए कहती है– 'प्यारे जीवें जगहित करे गेह न आवें।' क्योकि यह कृष्ण के आधुनिक मिथक से अनुप्राणित था। मध्यकालीन कृष्णमयता जहां विरह– वेदना को प्रश्रय देती थी, प्राग आधुनिक, नव आधुनिकता के क्षेत्र की समस्याओं के भीतर रखकर विवेचित करना चाहिए। राधा में मानवीय व्यथा का उदात्तीकरण आधुनिक मनस्तात्तिवक ढ़ंग से हुआ, जो आरोपित या कृत्रिम नहीं लगता। युगीन आशा तथा आकांक्षाएं राधा में मूर्तिमान हुई है। व्यक्तिगत प्रणय का पर्यवसान सामाजिक प्रेम में होने के साथ वह नवधा भक्ति को छोड़कर पीड़ित दीन दुखियों के कष्टों को सर्वोपरि मानने लगती है। राधा कृष्ण का मिथक परलोक से हटकर इहलोक पर केंद्रित हो जाता है। संसार का कल्याण आर्त उत्पीड़ितो के कष्टो पर ध्यान रोगी, तथा व्यथित प्राणियों की सेवा, बिद्वज्जनों से सत्संग, सोये लोगो का जागरण, पतितों को नवज्योति–दान तथा सर्वभूतोपकारी कार्य करना ही प्रभु की असल प्राप्ति है– यह धारणा द्विवेदी युग में बनने लगी थी। राधा काम कीडा, वियोग के उन्माद

तथा प्रणय की संकीर्णताओं से बिल्कुल अलग होकर श्रेष्ठ भारतीय नारी के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करती हैं वह अनुभव करती है—

मेरे जी में ह्रदय विजयी विश्व का प्रेम जागा।
मैने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में।।[57]

कृष्ण राजनैतिक सामाजिक अत्याचारों से रक्षा के लिए क्रियाशील है और राधा जनसेविका बन जाती है। सम्पूर्ण मानवजाति के प्रति उनका प्रेम धनीभूत हो उठता है। कवि की इस बदली जीवनदृष्टि का विश्लेषण करते वक्त तत्कालीन सामाजिक स्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए। हरिऔध परतंत्र भारत के कवि थे, राजनैतिक स्वतंत्रता की आग उनमें उतनी प्रखर नहीं थी। परतंत्र मनुष्य का विश्वप्रेम स्वाधीनता के प्रति उदासीनता का दूसरा नाम है। हरिऔध के अपरिपक्व आदर्शवाद ने राजनैतिक स्वाधीनता के बीच से कोई मार्ग नही खोंजा। इस दृष्टि से राधा की समाजसेवा तथा उसका विश्वप्रेम एक आदर्शवादी खोखलापन बन गया, जो उस युग के नवोत्थान की विचारधारा के खोखलेपन को भी व्यंजित करता है। हरिऔध का महत्व इस बात में है कि उन्होने कृष्ण राधा का मिथक परंपरागत तरीके से भिन्न रूपों में रखा। ये रूप आदर्शवाद की तूलिका से अधकचरी बौद्धिकता का रंग लेकर निर्मित हुए। राधा की

---

57. प्रियप्रवास—हरिऔध—पृ०—

लोकसेवा वस्तुतः कृष्णप्रेम का विस्तार बन गयी, क्योकि हरिऔध के युग में प्रेम की अपेक्षा सामाजिक कर्तव्य को महान बताया जा रहा था। राधा अपने प्रियतम का आंतरिक अनुभव करके कर्तव्य, त्याग, निष्ठा, सौजन्य एवं शील से परिपूर्ण नारी व्यक्तित्व पा लेती है। वह नित्य यशोदा के घर जाती है। गोपियो की व्यथा का विवेचन करती है, पक्षियों को अन्न जल देती है। तथा दीन दुखियो की सेवा शुश्रुषा करती है। राधा विश्व के कष्टों के भीतर ही अपने प्रियतम की पुकार सुनने लगती है। एक आदर्शवादी धरातल पर उसकी मनुष्यता भाववादी चेतना से भरी रहती है—

> कंगालो की परम निधि थी औषधि
> पीडितों की,
> दीनों की थी बहिन, जननी थी अनाश्रितों
> की,
> आराध्या थी ब्रज अवनि की, प्रेमिका
> विश्व की थी।[58]

---

58. प्रियप्रवास—हरिऔध—पृ०—

❁ साकेत ❁

मध्ययुगीन भक्त कवियों ने राम के मिथक को जिन सामाजिक आदर्शो, मनः सौदर्यात्मक एवं नैतिक प्रतिमानों के साथ स्वीकारा था, उनसे अलग भावभूमि पर आधुनिक कवियों ने स्वीकार किया। नये युग ने मिथक को धर्मगाथा, सांप्रदायिकता, पारलौकिकता या आध्यात्मिक दर्शन के आयामों में न देखकर समग्र मानवीय यथार्थ, सांसारिकता एवं आधुनिकता के आयामों में स्वीकार किया। मिथक का रूप मानवीय हो गया। आधुनिकता के आयामो में स्वीकार किया। मिथक का रूप मानवीय हो गया। आधुनिक मिथक कविता में नये वैचारिक परिवेश की अभिव्यक्ति हुई। भारतीय संस्कृति के मिथको ने एक युग से दूसरे युग में पदार्पण कियां मिथकीय संवेदना एवं युगीन बोध के परिवर्तन के साथ हिंदी कविता की आंतरिक संरचना में भी परिवर्तन आया ब्रौद्धिकता के विकास से देश तथा समाज के भीतर बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक से वे सांस्कृतिक हलचले तीव्र तथा बहुमुखी हो गयी, जिनकी शुरूआत उन्नीसवीं सदी में हो चुकी थी। मध्यकालीनतावाद की परिणतियां –परतंत्रता, शोषण अंधविश्वास से लड़ने की ताकतें इकट्ठी होने लगी थी। परिवार, समाज तथा देश की समस्याओ के बीच लौटना, मानवीय गरिमा की नर तथा नारी दोनो के बीच समानरूप से स्थापना, नयी नैतिकता तथा सौंदर्यबोध, व्यापक

प्रेम, पुनरूत्थापन के विचारों का लोक भावना में प्रसार, कविता रचना के केंद्र में मानवीय स्थितियों का आगमन ये कुछ ऐसे युगीन परिवर्तन है जिनका मिथकविता की पूरी रचना प्रक्रिया पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। 'साकेत' के कवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने राम को नये युग की प्रेरणा और आकांक्षाओं की इसी पृष्ठभूमि में स्वीकार किया और आधुनिक राम काव्य की रचना की।

राम के मिथक को केंद्र में रखकर रचित काव्यों में 'साकेत' ' तुलसी के रामचरितमानस' के बाद ऐसा दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें नयी मानवीय आस्था का प्रतिबिंब मिलता है। उसका कैनवास 'रामचरितमानस' जितना विस्तृत नहीं है, फिर भी उसमें रामकथा के जिन प्रसंगो को लिया गया, ये तुलसी की भावभूमि से सर्वथा भिन्न है। उसमे 'गो—गोचर जहं लगि मन जाई', 'सो सब जानहु माथा भाई' की तरह मानवीय जीवन तथा जगत के प्रति निरपेक्ष दृष्टि नहीं है और न ही 'काम', क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह के धारि। तिन्ह मह अति दारून दुख माया रूपी नारि'। की भांति स्त्रीजाति को अत्यंत संकुचित घेरे में रखकर सोचा गया हैं राम के सृजनात्मक मिथक में लगातार भिन्नता वाल्मीकि के पश्चात भवभूति, तुलसीदास तथा मैथिलीशरण गुप्त में अपने अपने युग की संस्कृति की इच्छाओं के आधार पर प्रतिष्ठित किया है। इससे राम कमजोर नहीं हुए है, बल्कि द्विवेदी युगीन नवीन आदर्शो के परिप्रेक्ष्य में नये तरह से

अर्थवान हो उठे है। वे राजतंत्र की जगह प्रजातांत्रिक भावनाओं के प्रतीक बन गये हैं रामचरितमानस से अधिक विकसित भावभूमि पर ग्राम को ग्रहण करने के बावजूद साकेत के राम मध्यकालीन संस्कारो से पूर्णतया मुक्त नही हो सके, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर राम के मिथक में इस काल तक सामाजिक द्वंद्व तीव्र हो गया था, जिससे वह धीरे, धीरे आधुनिक युग की भावनाओं के अधिक समीप पहुंच गये थे।

भारतीय पुनरूथान ने बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति 'साकेत' के माध्यम से की, जिसमे रामकथा के वनप्रंसग के बहाने भारतीय मनुष्य की पुर्नजीवित आस्थाओं, नवीन प्रतिबद्धताओं तथा सांस्कृतिक पुनरूत्थान के स्वप्नों की कथा हैं। मध्यकालीनतावादी राम का धर्म का सांप्रदायिकता से ऐसा मेलजोल था कि मानवतावाद की वृहत्तर प्रासंगिकता उजागर न हो पायी थी। उस मध्यकालीनतावाद से निकालकर साकेत के राम की अभिव्यक्ति लोक उत्थान के आधार पर हुई। साकेत के राम हिन्दू मन के भक्ति प्रसंग न होकर भारतीय पुनरूत्थानवादी स्वप्न के प्रसंग हैं यह स्वप्न सिर्फ यूरोपिया की ओर बढ़ता हुआ ने होकर यथार्थ के समीप आता हुआ भी है। कवि यूरोपिया से बंधा हुआ था, लेकिन उसमे यथार्थ की ओर बढ़ने की इच्छा भी जोर मारती है। राम का साकेत न पूरा यूरोपिया हैं। और न पूरा यथार्थ वह जातीय पुनरूत्थान के स्वप्नों का

मिथक है, जो (क) नारीमुक्ति, (ख) स्वतंत्रता (ग) मानवतावाद (घ) नैतिक आदर्शीकरण की चतुष्कोणात्मक भावभूमि पर संरचित है। साकेत में राम के मिथक की खोज इन्हीं आधारों पर हुई है। यह खोज भारत के समग्र सांस्कृतिक जीवन के संदर्भ में हुई है, जिसमे व्यक्ति, कुटुंब, नगर, वन, देश संसार सभी के परिवेश में नये मानवीय आयाम उद्घाटित होते हें इसमें कमजोरियां मनुष्य की कमजोरियां है। ताकतें मनुष्य की ताकतें है। साकेत की रचना की पृष्ठभूमि में मध्यकालीनतावाद की परिणतियों — आर्थिक शोषण, राजनैतिक परतंत्रता तथा मनुष्येतर अंधआस्था से छुटकारा पाने की एक सांस्कृतिक तड़प हैं साकेत मानव जीवन का काव्य है। ''मानस की अपेक्षा साकेत में जीवन का अंश अधिक है। हमारी सबसे बड़ी समस्या जीवन है और उससे पूरे अध्यात्म या धर्म कोई महत्व नहीं रखता। साकेत की धार्मिक पृष्ठभूमि का ठीक यही स्वरूप है उसमें युक्ति और मुक्ति का सामंजस्य है, भावुकता और बुद्धि का। भक्ति आकर साकेत में भावुकता बन गयी है'— इन उक्तियों में 'डॉ० नगेन्द्र' ने साकेत को सही भूमि पर परखने की कोशिश नहीं की। भक्ति अपने आप में एक तरह की भावनामयता ही है तथा भावनामयता एवं भावुकता में एक सूत का ही फर्क हैं। मानस तथा साकेत की भावभूमि में फर्क सूत भर का न होकर पुनरूत्थान भर का है। साकेत में प्रधानता भक्ति की भावनामयता की नहीं, बल्कि मानवीय आदर्शो ने आस्था की है। मैथिलीशरण का

व्यक्तित्व जीवन समृद्ध, कोटुंबिक तथा धामिर्कक था। इसे ध्यान में रखते हुए हम सोंच सकते है कि उनकी अपनी जीवन प्रणालियां रामभक्ति की मध्यकालीन पंगड़ड़ियो पर ही चनली हो किंतु कविता के मिथक को उन्होने नये आयामों में स्वीकार किया। साकेत में भक्ति नहीं, आस्था है– युगीन आदर्शो तथा सांस्कृतिक जीवन के पुनरूत्थान में। उनके जीवन के राम तथा कविता के राम में अंतर्विरोध हैं। निजी भक्ति के क्षणों में गुप्तजी के राम मध्यकालीनतावादी थे, तुलसी के राम कविता के क्षणों में, अपने समय के आयामों में खोजे हुए उनके अपने राम थे जो प्रतीकात्मक थे। साकेत निजी भक्ति से सामाजिक आस्था की ओर बढ़ता हुआ महाकाव्य है, जिसमे तत्कालीन सामाजिक जीवन के आदर्शो, प्रतीकों तथा आधबिंबो का संयोजन हुआ हैं। उसमें जहां तक मध्यकालीनतावाद की अभिव्यक्ति हुई है, अर्थात निजी भक्ति के राम का प्रभाव गहरा गया है, वहां तक उसमें पिछड़ापन है। यह पिछड़ापन अपने मध्यकालीन आयामों में सजकर आया है, जैसे कि 'होइहे वही राम रूचि राखा' की प्रतिध्वनि 'ईश के इंगित के अनुसार हुआ करते हैं सब व्यापार ' में मिलती है। ऐसे उदाहरणों की लम्बी कतार है।

'साकेत' में अवतारवाद को स्थान नही मिल सका, लेकिन लोकेश के लीलाधाम के रूप में भारतभूमि की पारलौकिक खुशहाली से जोड़ने की चेष्टा की गयी। साकेत नगरी के वर्णन में मैथिलीशरण

गुप्त ने अपने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक आदर्शो को यूरोपिया के रूप में वर्णित किया। यह यूरोपिया द्विवेदी युगीन आदश्वाद से उपजा हैं। उसमें नये भारत की रचना का बृहत्तर सांस्कृतिक स्वप्न झलकता है। स्वस्थ, शिक्षित, शिष्ट, उद्योगी, बाह्यभोगी, आंतरिक योगी— इन सभी तरह के लोगों की कल्पना के साथ आधि—व्याधि की चिंताओ से मुक्त होकर ,'सर्वसुख हैं प्राप्त जीवन के लिए' का सपना देखना तत्कालीन समाज की जटिलताओं के समानांतर एक समग्र समाज (टोटल सोसायटी) के आदर्शो के परिप्रेक्ष्य में एक यूरोपिया की रचना करना हैं मैथिलीशरण गुप्त ने इस तरह के यूरोपिया की रचना प्राकृतिक तथा सामाजिक सत्ता की भीतरी व्यवस्थाओं में की हैं। मैथिलीशरण गुप्त के राममिथक की एक अन्यसीमा भी है। मिथक के संबंध में किसी शास्त्रीय दृष्टि अथवा चिंतन के अभाव के बावजूद मानवीय जीवन तथा कला मे इसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक युग में होती रही है। कवि की समस्या शब्द विशेष के मिथक रूप से कभी जुड़ी नहीं रहीं। उसके लिए मिथक प्रक्रिया युग की एक सहज प्रक्रिया थी। राम के मिथक को युग की नवीन भूमि पर ग्रहण किया गया, किंतु तत्युगीन हिंदी कविता की भाषा अभी अपने को मांज रही थी। उसकी संप्रेष्ण—क्षमता का विकास उतना नही हो पाया था। इसलिए गाथात्मकता तथा वर्णनात्मकता की इतनी प्रचुरता मिलती है कि किसी विशिष्ट संदर्भ को उसका विस्तार मिल जाता है, परंतु गहराई नहीं। गाथात्मकता

के उथले में वर्णन मिलता है, गहरे में मिथक। मैथिलीशरण गुप्त अनेक जगहों पर गाथात्मकता के उथले में रह गये। उन्होने गहरे में जाकर मिथक की अनुभूति तथा इसके संप्रेषण की समस्याओं में साक्षात्कार नहीं किया। साकेत की वर्णनात्मकता उसके राममिथक के एक जबरजस्त सीमा है। साकेत में मिथक की पहचान कृति के भीतर करनी होगी, जहां राम का मिथक वर्णनात्मकता के उथलेपन को चीर कर उभरा है। यह पहचान समग्र कृति के संदर्भ में होगी। इससे स्पष्ट हो जायेगा कि मैथिलीशरण गुप्त के राम के मिथक की प्रधानतया दो सीमाएं रही हैं (एक) निजी भक्ति अथवा मध्यकालीन आध्यात्मिकता और (दूसरी) वर्णनात्मकता अथवा द्विवेदी युगीन हिंदी कविता की भाषा। फिर भी इन सीमाओं के साथ कवि ने साकेत मे सांस्कृतिक जीवन के नये आयामो की खोज की है।

'अर्थ नहीं केवल उपभोग्य' वह पहला केद्र बिंदु है जहां नये सांस्कृतिक जीवन की खोज नारीमुक्ति के आयामों में विस्तृत होकर पुररूत्थान के प्रथम सोपान की रचना करती हैं।

भारतीय मध्यकाल ने नारियों का भरपूर शोषण किया। हिंदू–बौद्ध दोनों ही धर्मों के व्यावहारिक ढांचे में या सगुण तथा निर्गुण संप्रदायो में नारी को उसकी वास्तविक सत्ता की संपूर्ण स्वीकृति नहीं दी गयी। उसे पुरूष के समकक्ष नहीं रखा गया। पुरूष की नारी दृष्टि देहवाद से बंधी रही या उसकी देह के ही कारण उससे सर्वथा मुक्त

निवृत हो गयी। नारी इन स्थितियों को सहज स्वीकार कर अपने अधि ाकार खोती चली गयी तथा वर्जनाओ में बंध गयीं मध्यकाल की इस परतंत्रता के विरूद्ध नारीभावना में पुनरूत्थानवादी स्वर जोर पकड़ने लगा। नारी के प्रति समतावादी मानवीय दृष्टि सामने आयी। भारतीय काव्य में उपेक्षित नारी चरित्रों पर नये कोणों से रचनाएं हुई। उनकी भावनाओं को समझने की कोशिश की गयीं लगातार शोषण तथा पुरूषक्षीय दृष्टि के कारण नारी इर्द गिर्द 'कामना' का जो कुहरा घिर गया था, उसे छांटकर नये उदात्त धरातल पर उसे गरिमामंडित किया जाने लगा और यह सब द्विवेदी युगीन आदर्शवाद के परिप्रेक्ष्य में हुआ। मैथिलीशरण गुप्त ने उपेक्षित तथा मौनं नारियो की ओर ध्यान दिया, जिनकी ओर पहले के कवियो का ध्यान नहीं गया था। साकेत में उर्मिला तथा कैकेयी नयी आत्मा के साथ मुखर हुई है। मध्यकाल ने उर्मिला तथा कैकेयी की वाणी पर जो तालेबंदी की थी, आधुनिक युग की पुरूत्थानवादी चेतना ने वह तालेबंदी तोड़ दी। रवींद्रनाथ, ठाकुर ने 'काव्येर उपेक्षिता उर्मिला' शीर्षक निबंध लिखकर उपेक्षित नारियों को नये काव्य में स्थान देने पर जोर दिया था। मैथिलीशरण की नारीदृष्टि विकसित है, फिर भी नैतिकता और मर्यादा की पुरानी परिपाटी से पूरी तरह मुक्त नही है। उन्होने पंचवटी में नारी के प्रेम करने के अधिकार की समस्या को तथा पुरूष की मर्यादा को शूर्पनखा के मिथकीय संकेत के माध्यम से उठाया था। पंचवटी के

मनोरम प्राकृतिक परिवेश में बिना इस बात का आभास दिये कि यह रमणीय नारी मूर्ति शूर्पनखा ही है, मैथिलीशरण उसके मुक्त प्रेम का निवेदन लक्ष्मण के समक्ष रखते है। लक्ष्मण अपने नैतिकतावादी विचारों के कारण उस अनिंध सुंदरी के अभिप्राय को तुरंत नहीं समझ पाते। समझने के पश्चात वे प्रस्ताव ठुकरा देते है तथा बतलाते है कि वे विवाहित है।

पुरूषों तथा नारियों के लिए अलग अलग नैतिकता पर प्रश्नचिंह उपस्थित करती शूर्पनखा कहती है—

पर क्या पुरूष नहीं होते हैं
दो—दो दाराओं वाले ?
नर कृत शास्त्रों के सब बंधन
है नारी को ही लेकर,
अपने लिए सभी सुविधायें
पहले ही कर बैठे है नर।[58]

शूर्पनखा का संकेत दशरथ जैसे व्यक्ति की ओर ही नही प्रेम के समान सामाजिक अधिकार के लिए नारी की तड़प की ओर भी है। यह नारी मुक्ति की छटपटाहट हैं शूर्पनखा द्वितीय श्रेणी के जीवन से मुक्त होना चाहती है, किंतु गुप्तजी ने लक्ष्मण से जो कहलवाया है वह आधुनिक दृष्टि कदापि नहीं कही जा सकतीं। लक्ष्मण कमजोर पड जाते है, जब वह कहते है— 'तो नारियां शास्त्र रचना कर क्या बहु पति

---

58. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त—पृ०—

का करें विधान ? लक्ष्मण ने नारी को गलत समझा। राम भी गलत समझते, जब स्पष्ट इंकार न करके वे सुबह के मनोरंजन के लिए उस सुंदरी को इधर उधर लुढ़काकर अंततः उसका अपमान करते है। यह उसके यौवन तथा सौंदर्य का अपमान सतह पर है, क्योकि यह नारी का बाह्यरूप है, नारीत्व तथा समान नैतिकता की मांग का अपमान गहरे में है, जो उसका भीतरी रूप है। यह भीतरी रूप ही शूर्पनखा है। उसका परिचय है–

मैं अपने ऊपर अपना ही
रखती हूं अधिकार सदा
जहां चाहती हूं, करती हूं
मैं स्वछन्द विहार सदा। [59]

आधुनिक नारी पुरूषों की तरह की आजादी चाहती हैं। राष्ट्रीय नवजागरण की चेतना नारी को आदर्शवादी सिंहासन पर बैठाना चाहती थी, पर नारी चाहती थी– यथार्थ मुक्ति। उसे पश्चिमी नारी मुक्ति–आंदोलन में ही यह मुक्ति चेष्टा दिखाई देती थी, जो अधूरी थी। शूर्पनखा को मध्यकालीन चेतना ने जिस वीभत्स रूप में चित्रित किया, उसी रूप को मैथिलीशरण गुप्त ने कुछ अधिक मनोरम तथा सुंदर ढंग से जाते हुए भी वह निजी भक्ति अथवा मध्यकालीन आध्यात्मिकता के शिकार रहे। इस स्थिति से थोड़ी बहुत मुक्ति उन्होने साकेत में पायी, जहां उपेक्षित नारियों का नये युग के आलोक

---

59. साकेत–मैथिलीशरण गुप्त–पृ०–

में कायाकल्प ही नहीं कर दिया गया, उनको उचित सार्थक व्यक्तित्व प्रदान करने की कोशिश की गयी। पंचवटी में कवि ने कथा को ग्रहण किया, साकेत में मिथक का जो नारी के सामाजिक जीवन के नये संकेत उभरा। आगे चलकर स्वच्छंदतावादी आधुनिक सोंदर्यबोध ने निराला के पंचवटी प्रंसग में शूर्पनखा को नवीन भावभूमि पर प्रस्तुत किया उन्होने मुक्त छन्द में इस लघु गीतिनाट्य की रचना की थी, जिसमे कविता की परंपरागत गोष्ठी से निकलने की कोशिश झलकती है। नंददुलारे बाजपेयी ने स्वीकार किया है कि निराला की इस रचना में स्वच्छंदतावादी भावनाधारा र्नित्याज रूप से अपनी समस्त विशेषताओं के साथ प्रस्तुत हुई है।'' उसमे द्विवेदीयुगीन नैतिकतावाद एवं इतिवृत्तात्मकता न होकर स्वच्छंद मनः सौदर्यात्मक भावना है। प्रकृति तथा सौंदर्य की गहन आंतरिकता के साथ स्वच्छंद प्रेम की ध्वनि इस कविता में अभिव्यंजित हुई है—

छोटे से घर की लघु सीमा में
बंधे हैं क्षुद्र भाव, यह सच है प्रिये,
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निस्सीम भू पर।[60]

निराला ने शूर्पनखा का सौन्दर्य वर्णन बिल्कुल नयी भावभूमि पर किया। जिसमें यौवन की मादकता के साथ प्रेम का गहन समर्पण है। 'योजन—गंध—पुष्प जैसा प्यारा यह मुखमंडल' की उक्ति शूर्पनखा

---

60. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त—पृ०—

को नारी–सौन्दर्य की सूक्ष्म भावनाओं का प्रतीक बना देती है। मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी निराला में आकर भावनात्मक बिंबो का सौंन्दर्यबोधात्मक केंन्द्र बन जाती है।

उस वक्त स्वाधीनता संग्राम में नारियां दिल खोलकर भाग लेने लगी थी। वे जगह–जगह प्रदर्शन और धरना देती थी। अपने मत व्यक्त करती थीं। इसमें संदेह नहीं कि उर्मिला के मिथक में नयी दीप्ति, नयी भावना, जातीय –सामाजिक संघर्ष के नये स्तर स्वाभाविक ढ़ंग से उभर कर आये। नारी अपनी पुरानी केंचुल छोड़कर नयी गरिमा से मंडित होकर सामने आयी। इस प्रकिया में उसका अपना सहजगुण छूट नहीं पाया, किंतु वह पुरूषों की अधीनता से निकलकर उनकी सहकर्मी बनकर समान गरिमा की अधिकारिणी हो गयी। साकेत में उर्मिला का व्यक्तित्व हमें वहीं आकर्षित करता हैं, जहां पीड़ा को गहराई से झेलते हुए भी उसके भीतर सृजन की मजबूत इच्छा हैं। उसकी सिसृक्षा पति की एंकात सेवा के लिए त्याग तथा देश के लिए सेवा भावना में अभिव्यक्त होती हैं। वह लंका का सोना नहीं। सीता की मुक्ति चाहती हैं। धन वैभव की नही, स्वाधीनता की आकांक्षिणी है वह। राम के वनवास से उर्मिला का आत्मनिर्वासन अत्यंत गहरा है, किंतु उर्मिला इसे 'एब्सर्डिटी' से न जोड़कर सार्थक

कर्म से जोड़ती है। राम भी अंततः स्वीकार करते है—

तू ने तो सहधर्मचारिणी से भी ऊपर,

कर्म स्थापन किया भाग्यशालिनी इस भू पर।[61]

61. साकेत—मैथिलीशरण गुप्त—पृ०—

❁ कामायनी ❁

कामायनी को लेकर हिंदी आलोचना में इतनी अधिक बहस हुई है कि अब इस पर बातचीत बंद है। सृजनशील आलोचना ने अपने गहरे चिंतन का पहला और भरपूर प्रयास प्रसाद की इस कृति के माध्यम से किया था। उसने अपनी मनस्तात्विक, समाजशास्त्रीय, आध्यात्मिक दार्शनिक और सौंदर्यशास्त्रीय शब्दावलियां पहली बार इसी के माध्यम से खोजी और पायी थीं। एक बड़ा दुर्भाग्य रहा कि युग की रूपायित समग्र मनः स्थिति एवं उसके मिथक की पहचान किये बिना शास्त्रीय एवं अकादमीय अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में 'कामायनी' की भाषा की पांडित्यपूर्ण खींचतान की गयी। परिणामस्वरूप कृति और आलोचना के बीच एक घना कुहरा इकट्ठा हो गया। कुहरे को चीर कर कामायनी की एक हद तक खरी आलोचना सिर्फ गजानन माधव मुक्तिबोध द्वारा हो सकी।

कामायनी से ऐसी उम्मीद रखना कि उसमे कुछ शाश्वत तत्व मिलेंगे अथवा ऐसी भी कि उसमे आज की पीढ़ी की अनुभव संवेदना मिलेगी व्यर्थ है। इस कृति की भाव स्थितियां मिथक की छायावादी आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में मानवीय भौतिक जीवन की कितनी संभावनाएं खोलती है, थोड़ा जोखिम लेकर उसी मुद्दे पर विचार करना चाहिए। निश्चय ही ऐसी आलोचना छायावाद की सीमाओं में स्वीकार किये गये काम के मिथक की आलोचना हैं काम

सृजन का मिथक हैं। वह पश्चिम के 'सेक्स' तक सीमित नहीं है। भारतीय संस्कृति में काम की जटिलताओं का अपना अलग स्वरूप है। किसी एक युग का प्रतिपादित काम दूसरे युग में अस्वीकारा भी गया है। काम को समुद्र के समान बतलाकर इसके जरिये अभिलाषित वस्तु हासिल करने की बात अथर्ववेद कही गयी है— 'कामो दातकामः प्रतिग्रहीत। कामः समुद्रमाविवेश।' गीता में काम को आत्मा का नाश करने वाला नरकद्वार, पर शैवमत में इसे परम तत्व कहा गया है। प्रसाद ने काम को सृजन के परम तत्व के रूप में ही ग्रहण किया और इसका दर्शन प्रस्तुत किया।

'कामायनी' में मनु की समस्या है। यह मानव श्रद्धा एवं मनु का पुत्र है एवं अन्त में यह इड़ा के साथ राज्य—संचालन में सहयोग के लिए सारस्वत प्रदेश रह जाता है। श्रद्धा उसे अपने एवं मनु के साथ कैलाश लोक नहीं ले जाती। मानव कामायनी में अनुपस्थित रहने का भ्रम उत्पन्न करता है, लेकिन यह चिंता सर्ग में मनु के भीतर था और श्रद्धा, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या सर्ग में श्रद्धा के साथ भी।

'संघर्ष'सर्ग के बाद भी पूर्ण मानव होकर वह इड़ा के साथ हो लेता है, लेकिन श्रद्धा लेकिन उसमें मरती नहीं। मनु अवश्य घायल हो जाता है। मनु का घायल होना मानव जीवन से सम्बन्धित नया अर्थ पाना है, जो श्रद्धा और इड़ा दोनों के मेल से बनता है। प्रसाद की

कविता चेतना मानव जगत में ही केंद्रित थी। जीवन का अर्थ पाने के लिए उन्हे 'कामायनी' का इतना बड़ा उपक्रम करना पड़ा। इसके बिना मानव न श्रद्धा के रूप में प्रतिबद्ध जीवन की स्वतंत्रता का ही बोध कर पाता, न बौद्धिकता का ही। 'कामायनी' की आलोचना में सबसे बड़ा भ्रम मनु को मानव निरपेक्ष केन्द्रीय समस्या मानकर उत्पन्न किया गया। इस भ्रम को दूसरे आलोचको की तरह मुक्तिबोध भी गहराते है– ' मनु प्रसाद जी के व्यक्तित्व की बहुत भीतरी प्रवृत्तियो का प्रतिनिधि चरित्र है'.... मनु– समस्या जो वस्तुतः प्रसाद –समस्या है, आत्मानुभूत समस्या है। अगर वह ऐसा न करती तो प्रसाद उस पर उतनी सहज तथा इतनी स्वाभाविक और आत्मपरक रीति से अपने जीवन का सारा चिंतन न्यौछावर नहीं कर देते।'' प्रसाद का चिंतन बहुत गहरा है। इसके समीप जाने के लिए आलोचकों एवं शोधार्थियों की कई जिंदगियां चिंतन करती रही, यह एक (हास्यास्पद) तथ्य हैं। मुक्तिबोध ने बहुत सहजता से प्रसाद के चिंतन के व्यावहारिक चिंतन के स्वाभाविक एवं आत्मपरक होने की बात कही है। छायावादी काव्य में इस तरह के स्वाभाविक एवं आत्मपरक होने से कोई आपत्ति न करते हुए उनकी आत्मपरकता को एक नये परिप्रेक्ष्य में समझना जरूरी लगता हैं, क्योकि 'कामायनी' में व्यापक अंर्तबाह्य चिति गहरे अंर्तद्वंद्वों से पाया गया छायावादी सत्य है। यह 'आंसू' और 'लहर' की तरह मात्र सतत अनुभूति एवं कल्पना द्वारा रची कृति नहीं है।

कामायनी के मिथक की पूर्व–धारणाएं अपेक्षाकृत अधिक सचेत सजग होकर बनायी गयी थीं। इसी कारण हम ऐसे सोच तक पहुंचते है कि रचनात्मक काम के मिथक द्वारा 'कामायनी' में समग्रतः मानव के संघर्ष' आस्था एवं इसकी बौद्धिक यात्रा की कहानी है। मनु सिर्फ एक आधुनिक उपकरण है तथा अंतिम दो सर्गो का कैलाशलोक सिर्फ यूरोपिया।

'रमेशचन्द्र शाह' ने प्रसाद को समूची संस्कृति के प्रति–निधि कवि और विश्व विद्यालयों का कवि दोनो साथ कहते हुए उनकी प्रासंगिकता पर अधूरा विचार किया है। प्रासंगिकता का निष्कर्ष बतलाते हुए उन्होने लिखा है– " प्रासंगिकता का स्त्रोत कालातीत और कालबद्ध के तीखे अस्तित्वसिद्ध तनाव में निहित है। रचना वह प्रासंगिक है। जिसकी रचनात्मकता काव्य संस्कृति के मूल्यो के स्तर पर भी प्रासंगिक हो तथा जो अपने समय की मानवीय सच्चाइयों का उनकी पूरी जटिलता में साक्षात्कार करती हों "। कालातीत और कालबद्धता को मिलाकर तैयार किया गया रहस्यात्मक मुहावरा तथा अस्तित्व सिद्धता समकालीन प्रासंगिकता के गलत निष्कर्ष है। काल के भीतर से होते हुए काल के परे का सोच उस काल्पनिक स्वप्न जगत से प्रेरणा पाता है, जिसकी आज कोई प्रासंगिकता नहीं। प्रसाद की एक सीमा है उनमे सामाजिक राजनैतिक संचेंतनता के साथ एक आदर्शवादी आग्रह भी हमेशा काम करता रहा है। प्रासंगिकता का अर्थ

हिंदी में बहुत बदला है। एक ही काल में पीढ़ियो और विचारो के लेखक है। वे मानवीय सच्चाइयों को अपने अपने ढंग से झेलते है। फिर प्रासंगिकता किसके साथ है, यह तय करना आलोचक को निरंकुशता का अवसर नही देता। प्रासंगिकता का सवाल तनाव को छूकर नहीं रह जाता बल्कि अपने काल की प्रतिबद्धताओं के माध्यम से बौद्धिक सामाजिक संघर्षो से जुड़ता है। यह समाज की इच्छाओं जरूरतों को समझना हैं प्रसाद ने जीवन के किस अर्थ या मूल्य का साक्षात्कार करके उसे अपने युग की प्रासंगिकता में स्थापित किया ? इतना निश्चित है कि उन्होने समाज में फिट होने की कभी कोशिश नही की। वह तनाव तक सीमित न रहकर संघर्ष की ओर बढे। उन्होने मानव अस्तित्व को एक अर्थ से जोड़ा। यह भी दिखलाया कि मानव अस्तित्व मनु के रूप में अर्थ से विलग क्यों हो जाता है।

हिन्दी आलोचना की बड़ी दिक्कत रही है कि 'कामायनी' के मिथक की आधुनिक प्रासंगिकता को समझने की जगह, नव मध-यकालीनतावादी संभावनाओं पर किताब की किताब उगली गयी। इस काव्य से बढ़ी विरूचि का कारण यही हैं उसकी नयी संकेत वैज्ञानिक आलोचना आज कितनी प्रासंगिक है, इसके लिए काम के मिथक की लाक्षणिक पड़ताल जरूरी है। रोला बार्थ ने कृति के ढांचे तथा उसके स्वरूप की संकेत –वैज्ञानिक पद्धति (सेमियोलॉजिकल सिस्टम) से आलोचना की बात की है। इसके लिए उसने त्रिआयाम–संकेतक

संकेतित और संकेत (साइन) से बने है। उसने मिथको को संकेत वैज्ञानिक पद्धति समझने की कोशिश की। 'कामायनी' की सांकेतिकता तथा उसके प्रतीकात्मक बिंबो को समझने के लिए हमे एक पद्धति की तलाश करने होगी। जिसे हम अलग से सामाजिक संकेत वैज्ञानिक (सोशयो–सेमियो –लॉजिकल) पद्धति कह सकते है।

प्रसाद का मन अतीत में जाकर उधर ही बस जाता है या उधर से कोई संवेदना अथवा दृष्टि लाकर अपने वर्तमान के कलात्मक पुनर्सृजन के लिए लौटता है ? मनु इस प्रलय में अपना सारा कुछ लुटाकर अकेला हैं कोई जीवंत समाज और संस्कृति नहीं है प्रलय के बीच यह आदिम अकेलापन मानवीय लाचारी को आद्यरूपीय पद्धति से और गहरा देता है। खैर, प्रलय का आंतक झेलता पराधीन मनु धीरे–धीरे सचेत होता है। प्रलय के बीच से मही का निकलना संकेत देता है कि मनु की वर्तमान चेतना में स्वतंत्रता की भावना का समावेश हो रहा है। यह भावना कोई निश्चित आकार नही बनाती। वह सिर्फ इतना सोचता हैं कि चारों तरफ अभाव एवं गरल हैं अभिशापों से भरे उसके जीवन से इनका घना रिश्ता हैं अतः बिना किसी सामाजिक अधिकार, कर्म और स्वाधीन भविष्य के उसका जीवन व्यर्थ हैं। पराधीनता के आवेश में वह जीने से परहेज नहीं करते हुए भी इस तरह जीने की चेतना से विमुख होना चाहता है। इतिहासबोध ने उसके पराधीन वर्तमान को इस तरह नंगा कर दिया था, कि वह जातीय स्मृतियों से

भी छुटकारा चाहता है। प्रलय के बीच मनु का चिंताग्रस्त अकेलापन जातीय निराशा की ओर संकेत है। यह निराशावाद शापेनहावर से मिलता जुलता है, जो एक तरह की आधिभौतिक दृष्टि के कारण यूरोप को प्रभावित भी कर चुका था, लेकिन यह तुर्गनेव के बाजीराव दृष्टि की ध्वंसात्मक नकारात्मकता से भिन्न कोटि का है। एक अन्य धरातल पर बौद्धों से भिन्न और वीटनिकों से मिलते जुलते 'निगेटिव निहलिज्म' की ओर मनु बढ़ता है—

> विस्मृति आ, अवसाद घेर ले,
>
> नीरवते ! बस चुप कर दे,
>
> चेतनता चल जा, जड़ता से
>
> आज शून्य मेरा भर दे।[62]

प्रलय के मिथक की पृष्ठभूमि में राजनैतिक पराधीनता का बहुत गहरा बोध है। यदि प्रलय मात्र जलगत है, तो सारस्वत प्रदेश में भरीपूरी जागरूक जनता, बुद्धिवाद के आधार पर विकसित हो रही एक सभ्यता और इसकी नेत्री इड़ा कहां से आ गयी ? पराधीन रहते हुए भी मनुष्य का जीवन समाप्त नहीं होता। मनु निराशा में सोचता है कि उसकी पराधीनता खत्म नही होगी। वह अपने व्यक्तित्व के जर्जर दंभ पर व्यंग्य करते हुए अपनी कायरता के अवसरों को याद करता हैं/पराधीन व्यक्ति के अवसादों का चित्र प्रसाद ने समाकालीन जीवन की गतिविधियों से जुडकर खींचा है। अंग्रेजी राज में लोगो के

62. कामायनी—जयशंकर 'प्रसाद'—पृ0—

रूढ़िग्रस्त जीवन में दुखों की कोई सीमा नही थी '' पराधीन सुख सपनेहु नाहीं''। चिन्ता सर्ग में कामायनी के बिंब तत्कालीन जीवन की हताश मनोदशाओं का सजीव चित्र उपस्थित करते है—

मौन ! नाश ! विध्वंस ! अंधेरा ! शून्य
बना जो प्रगट अभाव,
वही सत्य है, अरी अमरते ! तुझको यहां
कहां सब अंब।
मृत्यु अरी चिरनिद्रे। तेरा अंक
हिमानी—सा शीतल
तू अंनत में लहर बनाती काल
जलाधि की सी हलचल[63]

मनु की वैयक्तिक स्वतंत्रता पर प्रलय के कारण बाधा आ गयी थी। उसका कर्तव्य अस्पष्ट हो गया था। चारों तरफ अंधेरा और विध्वंस दिखता था। एक गहरी चुप्पी थी। वह सृजन की कल्पना नहीं करता, इसलिए उसे पराधीनता एवं मृत्युबोध की शीतलता रूचिकर लगती है। पराधीन भारत में ऐसे मनुष्यो की कमी न थी जो स्वप्न में भी स्वाधीनता की ही बात सोचते थे। कुछ ऐसे भी थे, जो परेशानियो अत्याचारो से त्रस्त होकर निराशा में आत्महंता संस्कृति की ओर बढ़

भारतीय मनुष्य की मूल चिन्ता अपने स्वतंत्र अस्तित्व की पहचान और उसे सारतत्व से जोड़ने की थी। 'कामायनी' के मिथक के माध्यम से भारतीय मानस की गहराई में उतरकर इसी अस्तित्व की खोज और पहचान हुई है। इसकी मूल चिंताओ की अभिव्यक्ति और उन मौलिक प्रेरणाओं की तलाश हुई है, जो मानव जीवन में आशा पैदा करती है। प्रसाद ने प्रलय –पूर्व जीवन की उस सभ्यता के पतन का चित्र खींचा है, जिसके कारण अभिशाप बनकर प्रलय आती है, मुसलमानो के आक्रमण होते है तथा अंग्रेजी साम्राज्यवाद का विस्तार होता है । रचनाकार की मानसिकता नाटक कहानी में दूसरी होती हैं तथा कविता में यह व्यक्तिगत होकर बिल्कुल बदल जाती है –यह बात गलत है हम प्रसाद के नाटको के अध्ययंन क्रम में 'कामायनी' की पृष्ठभूमि में मात्र इसकी कविता परंपरा को रखकर करते है। प्रसाद के समूचे साहित्य की परंपराओ ने 'कामायनी' की रचनाभूमि तैयार की है सिर्फ 'आंसू' ने नही। फिर हम कैसे सोच सकते है कि यह कृति अपने युग की प्रासंगिकता लेकर नहीं चलती तथा पराधीन देश के रचनाकार का जो दायित्वबोध है, जो उसे झुठलाकर खड़ी होती है। यह मिथक का विकासशील बोध है, जिससे जुड़कर छायावाद एक सामाजिक–राजनीतिक फेनामेना बन जाता है। निराला की 'जूही की कली' और 'राम की शक्तिपूजा' में फर्क है अथवा नहीं ? यह फर्क वैसा ही है जैसा 'झरना' और 'कामायनी' में। 'लहर' की बहुत सी कविताओं को सामने रखकर

प्रसाद की काव्यचिंता में सामाजिक – राजनैतिक बोध स्पष्ट किया जा सकता है। उनकी सामंतवाद विरोधी प्रवृत्तियों का परिचय दिया जा सकता है।

किसी सभ्यता के पतन तथा प्रलय के अभिशाप का कारण केंद्रीभूत सुखों की पूंजी है। इसे देव–सभ्यता के मिथकीय संकेत के माध्यम से व्यक्त किया गया है। देवसभ्यता वैदिक देवताओं की सभ्यता है, जो सामाजिक संपर्क से कटकर विनष्ट हो गयी। देव–सभ्यता के अतिचार, विषमता एवं संग्रह का एक प्रतीक दक्ष यज्ञ है, जिसका ध्वंस शिव ने किया। यह वैदिक देवताओं की सभ्यता के खत्म होने की सूचना है। उनकी कीर्ति, दीप्ति एवं शोभा एक समय अप्रतिम थी। भारतीय संस्कृति के एक काल की भावनाओं के प्रतीक वैदिक देवता विलासिता के महानद में डूब गये। वे जनभावनाओं से कट गये और समाज के विकास में असमर्थ हो जाने के कारण पतन में असमर्थ हो जाने के कारण पतन के शिकार हुए। वे अब कहानी रह गये।

प्रसाद ने जिस सभ्यता के पतन का चित्र वैदिक देव सभ्यता के मिथक के माध्यम से खींचा है उसके प्रधान तत्व हैं–हिंसा, विलासिता एवं राजतंत्र की जनविमुखता। लंबी भारतीय पराधीनता के कुछ चरणों को भावनात्मक आधार पर विश्लेषित कर प्रसाद ने यह भी संकेतित किया कि जिस प्रलयोत्तर संस्कृति की स्थापना वह चाहते हैं, उसमे हिंसा, विलासिता तथा निरंकुशता की कोई जगह न हो। ये

चीजें ही अपने पीछे पराधीनता की सांस्कृतिक प्रलय ले आती है। और जीवन के जनतांत्रिक मूल्य टूट—बिखर जाते है। टूटे-बिखरे मूल्यों को इकट्ठा कर पराधीन मनु स्वतंत्रता के उदय की आशा का संचार करता है। नये तरह के अकेलेपन में मनु ने देखा कि हिम की तरह जड़ता से आच्छादित देशी जमीन में वनस्पतियां उग आयी हैं प्रकृति की यह सामाजिक प्रबुद्धता (प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने) मनु की चेतना में " नवकोमल आलोक " बिखरने लगा। यह नवीन इसलिए है कि मनु पराधीनता से निकलकर चेतना के धरातल पर स्वतंत्रताबोध की ओर बढ़ता है। यह कोमल इसलिए है कि प्रतीकात्मक की पद्धति छायावाद की सीमा है। अगर कोमल की जगह 'अनंत' रहता यह छायावादी भावना के भीतर खोले गये रहस्यवाद के द्वारा की ओर संकेत करता। 'कामायनी' में ऐसे द्वारो की कमी नही है, लेकिन ये मूल चीजे नही है प्रधान बात यह है अपने युग की मनः स्थिति को सृजन के मिथक के माध्यम से सामने रखा। सृजन की पहली शर्त है स्वतंत्रता । प्रसाद ने सबसे पहले मानवीय स्वतंत्रता के मूल्यों की रचनात्मक अनुभूति की। भारतीय पराधीनता के परिवेश में ऐसी अनुभूति निश्चय ही एक बड़ी बात थी। मनु स्वतंत्रता की मनः सौंदर्यात्मक अनुभूति करता है। पराधीन व्यक्ति स्वतंत्रता की अनुभूति धीरे—धीरे करता है। स्वतंत्रता का सही और पूरा बोध तभी होता है। जब हम यह जान पाते है कि कहाँ—कहाँ पराधीन हैं[पराधीन का

बोध जैसे—जैसे विकसित होता जाता है,स्वतंत्रता की समझ जाता है मनु ने अपने एकाकीपन में एक बंद संस्कृति का अनुभव किया। तत्पश्चात् पराधीनता का उसका बोध एक त्रासदी की ओर बढ़ गया है।

सृजन के लिए मानवीय स्वतंत्रता प्रधान शर्त है। काम ही सृजन प्रेरणा हैं। भारतीय काम का अर्थ फ्रायड के 'लिबिडो' से भिन्न है। यह शिवत्व से संयुक्त हैं गीता में कृष्ण स्वयं को काम कहा है (यह कामोडस्मि)। वैदिक देवताओं के बाद शिव, विष्णु, प्रजापति (ब्रम्हा) की तीन मिथकीय धुरियां भारतीय संस्कृति के केन्द्र में थी। तीनो ही काम से जुड़े देवता है। ब्रम्हा ने अपनी ही दुहिता से संसर्ग करना चाहा। काम की उच्छृंखलता है। वह सृष्टिकर्ता है। काम की प्रेरणाओं से सृजन होता है।, लेकिन काम जब उच्छृंखल हो उठे, सृजन में भी खोट आ जाता है। उस समय सृजनकर्ता को शिव की जरूरत पड़ती है। इस मिथक को प्रसाद ने अपनी छायावादी भूमि पर स्वीकार किया। 'नरेश मेंहता' का कथन है कि ''प्रसाद भक्ति युग की वैष्णवता से जुड़ने के स्थान पर शैवता के प्रति आकृष्ट है। यह सर्वथा नयी भावभूमि थी, अतः कठिन थी। प्रसाद में एक आश्वस्त का स्वर है, जो अन्य छायावादियों से नही रहा'' यह आश्वस्ति मनुष्य की रचनात्मक क्षमताओं के संदर्भ में थी। वह काम को दंड नहीं, पुरूस्कार देना चाहते थे। इसकी समस्याओं को उन्होनें समग्रता के साथ अपनी

कृति की मूल संवेदना के केंन्द्र में रखा। मनु का काम भी जब उच्छृंखल हुआ और उसने इड़ा का घर्षण करना चाहा, जन–साधारण ने दंड दिया।

मनुष्य की सबसे बड़ी क्षमता है उसकी सृजनशीलता उसे सृजनकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित करने का संकल्प प्रसाद में था, इसलिए उन्होने काम को स्वीकारा भारत की स्वतंत्रता के प्रति भी वह आश्वस्त थे। वह स्पष्ट करना चाहते थे, कि पराधीनता के वातावरण में भारतीयों का रचनात्मक दायित्व क्या है तथा मानवीय स्वतंत्रता के कौन से मूल्य जीवन को अर्थवान बना सकते है।

मनु में सबसे पहले जीने की भावना (जिजीविषा) पैदा होती हे। प्रज्वलित अग्नि के माध्यम से अवसाद और दुखो के बीच भी आशावाद का चिन्ह दिखायी पड़ता है। अस्तित्ववादियों की दृष्टि 'मैं हूं' पर केंद्रित थी। मनु अपने अस्तित्व के अर्थ की पहचान के लिए कर्म की ओर बढ़ता है। वह 'मैं रहूं' की ओर बढ़ता है– 'निज अस्तित्व बना रखने में जीवन का आज हुआ व्यस्त'। वह अपनी वस्तुगत क्षमता का बोध आदिम प्रतीकों के माध्यम से करता है। सुरक्षित बच जाने के बाद अग्नि प्रज्वलित करना कर्मोन्मुख होने की सूचना है। पाकयज्ञ कर्म की प्रस्तुति है। मनु अकेले थे। गहरे दुखों में पड़कर वह मानवीय संवेदना का मतलब समझने लगे थें।कवि ने मनु के माध्यम से मनुष्य के मन का भटकाव तथा आत्मसंशोधन –दोनो दिखाया है। मनु का

भटकाव, जो स्वतंत्रता का मतलब समझने के स्तर से लेकर जीवन सक्रियता तक घटित होता है, समकालीन जीवन के भटकावों को प्रस्तुत करता है, प्रसाद समझते थे कि अंग्रेजो से हमें स्वतंत्रता इसलिए नहीं लेनी कि नये स्वतंत्र भारत में जीवन दुखी और संत्रस्त हो जाये, काम भावना (बृहत्तर अर्थ में कामना) उच्छृंखल हो और स्वतंत्र व्यक्ति अपनी प्रतिबद्धताएं नहीं समझे। 'कामायनी' में स्वतंत्र भारत की राजनैतिक रूपरेखा की मानसिक तैयारी हो रही थी तथा मानव के माध्यम से स्वतंत्र जनता एवं उसके कार्य – प्रणालियों का भावानात्मक अध्ययन हो रहा था। प्रसाद ने मनु के लिए 'कामायनी' नहीं लिखी। मनु मानव का आंतरिक भटकाव था। फिर भी बिना मनु के, विवेकशील मानव का अभ्युदय इसलिए संभव नही था कि मूल गल्तियों के बाद ईमानदार आत्मसंशोधन करके ही व्यक्ति को सच्चे यथार्थ का पता चलता है। मनु के सम्मुख दो विकल्प थे– आत्महत्या तथा विद्रोहयुक्त कर्म। इनमें से किसी एक का वरण उन्हें तुरंत करना था, क्योकि उनकी चेतना, किसी अर्थ में उनका इतिहास बोध उन्हें परेशान कर रहा था कि नियति के पश्चिमी शासन में चलना अब और नही सहा जाता। इसलिए–

नव हो जगी अनाद वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान

चिरपरिचित–सा चाह रहा था

द्वन्द्व सुखद करके अनुमान।[64]

मानवीय स्वतंत्रता जीवन की एक प्राकृतिक भूख है। मनु का इस भूख को इतिहासबोध उत्तेजित कर उसमें नये द्वंद्व की सृष्टि कर देता है और उसमें नयी अभिलाषा भर देता है। यह इतिहास का द्वंद्ववाद था, जो मनु के भीतर पैदा होता है। इस प्रक्रिया को कवि ने वस्तुगत धरातल के स्थान पर आत्मनिष्ठ स्तर पर उभारा था। मन का एक बड़ा हिस्सा सांस्कृतिक अचेतन के अधीन है जिसमें प्राकृतिक आकांक्षाओ से लेकर विकासशील संस्कृति के अनेक आधरूप एवं प्रतीक है। सांस्कृतिक प्रलय मनुष्य के वैयक्तिक चेतन या अचेतन को जल में डुबो सकता है, सांस्कृतिक अचेतन को वह आंतकित नहीं कर सकता। जातीय परंपरा की हर तरह की ताकत हर तरह की पराधीनता के आंतक को पहले अवचेतन के धरातल से उखाड़ता है फिर शनैः शनैः चेतना धरातल पर भी अपना तीव्र आलोक फेंक देता है। पराधीन मनुष्य अपनी स्वतंत्रता की भावना पुनः कैसे हासिल करें, मनु इसका मनस्तात्विक उदाहरण उपस्थित करता है। वह अपने अकेलेपन विवशता और विराग से विद्रोह करता है। अपने आलस्य को तोड़ता है और अपनी वैश्विक प्रकृति अर्जित करने के लिए सृजन की ओर उन्मुख होता है। प्रकृति का सबसे बडा नियम है । निरंतर सृजन।मनु अपना सृजन कैसे करता है ? और इस मार्ग में कौन से भटकाव आते

64. कामायनी–जयशंकर 'प्रसाद'–पृ0–

हैं।

अंग्रेजी राज्य के विरूद्ध सीधे विद्रोह के प्रति छायावादी कवियों का संकोच हम बखूबी समझ सकते है। 'सरस्वती' तक मै जब अंग्रेजी गर्वनरों–वाइसरायों तथा बड़े अफसरों की तस्वीरें बहुत शान से छपती थीं, छायावाद अपनी सीमाओं में सक्रिय विद्रोह का दर्शन विकसित कर सकता था, यह सोचना व्यर्थ हैं। उसका स्वभाव नाजुक था। किन्तु वह राजनीति की भावना को कला संस्कृति के धरातल पर व्यक्त करना चाहता था, ताकि मनुष्य की भीतरी दुनिया को प्रभावित करे। छायावादी कवि स्वतंत्रता के प्रति आश्वस्त जरूर था। इसलिए वह स्वतंत्र भारत के भावी मनुष्य की मानसिक तैयारी में लगा था। कम से कम निराला और प्रसाद के बारे में यह बेधड़क कहा जा सकता है और उन्हें आत्मनिष्ठ कवि कहकर खारिज नहीं किया जा सकता, क्योकि इनकी आत्मनिष्ठता पर 'मैं' से ज्यादा जातीय सांस्कृतिक प्रक्रिया का दबाव था। किसी व्यापक सांस्कृतिक मिथक का सहारा न लेने के कारण महादेवी की पीड़ा उनके अंर्तव्यक्तिगत संसार में दीप की तरह मधुर-मधुर जलती रही जबकि प्रसाद की मधुर जलन अपना सांस्कृतिक आदर्श भी अर्जित कर सकी। उन्होने पश्चिम के काले बादल के रूप में अक्सर पश्चिम की गुलामी को संकेतित किया तथा सूर्य की किरणों के माध्यम से भारतीय आजादी की लड़ाई का रूपक भी रचा–

ऑह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम
अरूण रविमण्डल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।[65]

मधु और परमाणु भी कवि के संस्कृति है। मधु के माध्यम से कवि का संकेत जातीय संस्कृति की मौलिक प्रकृति की ओर है। विभिन्न फूलों के रस से मधु इस प्रकार बनता है कि अलग—अलग फूलों का अपना अस्तित्व नहीं रह जाता। उसी प्रकार जातीय संस्कृति विभिन्न समूहों तथा विचार—धाराओं से बनी है। विविधताओं में मधु जैसी एकता उसकी आधारभूत प्रकृति है। साम्राज्यवादी शक्तियों की मूल चेष्टा यही रही कि भारत की राष्ट्रीय संस्कृति की यह आधारभूत प्रकृति छिन्न—भिन्न हो जाये। मधु में अलग—अलग रंग दिखाई पड़ने लगे और विच्छिन्नतावाद का प्रभाव बढ़े प्रसाद ने इसे जातीय प्रगति में सबसे बड़ा बाधक तत्व माना था कि धर्मो और जातियों के आधार पर भारतीय समाज विभाजित हो जाये। हिंदू, मुसलमान या हरिजन स्वर्ण आपस में लड़े : अपने हितों की जातीय एकता के आधार पर व्यक्त करने के स्थान पर पृथक—पृथक कर लें उन्हीं दिनों देश में दंगे बढ़े थे और पिछड़ी जाति को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ था, जिनके एतिहासिक संदर्भ प्रसाद की काव्य चेतना को हमेशा झझकोरते रहे। इसलिए उन्होनें राष्ट्रीय संस्कृति की मौलिक प्रकृति को एक प्राकृतिक

---

65. कामायनी—जयशंकर 'प्रसाद'—पृ0—

पदार्थ—मधु से व्यंजित किया—'रचित परमाणु पराग शरीर ' खड़ा हो ले मधु का आधार।' परमाणु सभ्यता—संस्कृति की भौतिक ताकत है, जो वस्तु से निकली है। यह मनुष्य की वस्तुवादी—वैज्ञानिक क्षमता का मिथक है। श्रद्धा अगर मधु का रूप है, तो इड़ा परमाणु का। एक पराधीन समाज में कविता लिखते हुए भी प्रसाद की दृष्टि बराबर इस पर टिकी रही की मनुष्य के भावी विकास की दिशा क्या हो। वह एक तरफ परमाणु के लिए जातीय संस्कृति के आधारभूत प्रकृति खोना नही चाहते, दूसरी तरफ बिना परमाणु के मधु की सार्थकता नहीं मानते। परमाणु मधु की गति है। मधु और परमाणु एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं, किंतु विपरीतों का यह युग्म सिर्फ जातीय संस्कृति ही नहीं, समूची मानव संस्कृति के विकास की मिथकीय कथा कहता है।

भूलता ही जाना दिन रात
सजल अभिलाषा कलित अतीत
बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य
दीन जीवन का यह संगीत।[66]

मनु की दीनता की वजह क्या थी ? वही जो भारतवासियों की दीनता की वजह थी। उनके जीवन में गुलामी का संगीत बज रहा था। मनु जातीय स्मृति से विच्छिन्न हो गया था। वह अभिलाषारहित हो चुका था, मनु के दीन जीवन में स्वतंत्रता— भावना का उदय श्रद्धा से मिलने के बाद होता है। अंधकार छंटता है। श्रद्धा ही स्वतंत्रता की

---

66. कामायनी—जयशंकर 'प्रसाद'—पृ0—

भावना है, जो सृजन की शर्त है। यह मानव की माँ है और मानव को उसके दायित्व–बोध की ओर अभिमुख करना चाहती है। प्रसाद ने श्रद्धा की पहचान अपनी भूमिका में धुंधली कर दी है– ' मनु अर्थात मन के दोनों पक्ष, ह्रदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमश, श्रद्धा इड़ा से भी सरलता से लग जाता है' या 'श्रद्धं ह्रदयय याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु '। प्रसाद के पास मिथक रचना की दृष्टि थी, लेकिन मिथक आलोचना की दृष्टि नहीं थी। इसलिए उन्होंने भूमिका में कामायनी के मिथक की विवेचना न कर, कथा के वैदिक–पौराणिक प्रंसगो की विवेचना की। कामायनी में न वेदकथा है और न धर्मगाथा।

घूमने का मेरा अभ्यास बढ़ा था मुक्त
व्योमतल नित्य,
कुतूहल खोज रहा था व्यस्त ह्रदय सत्ता का
सुन्दर सत्य।
दृष्टि जब जाती हिमगिरि ओर प्रश्न करता
मन अधिक अधीर
धरा की यह सिकुड़न भयभीत आह,
कैसी है ! क्या है पीर ? [67]

काले छपे अंशो को संकेत वैज्ञानिक पद्धति से समझना चाहिए कि श्रद्धा किस तरह स्वतंत्रता की देवी के रूप में मनु के मानस पर उदित होती है। श्रद्धा को मुक्त धरती पर घूमने का अभ्यास था,

---

67. कामायनी–जयशंकर 'प्रसाद'–पृ0–

लेकिन जब वह पराधीनता के रूप में भय उत्पन्न करने वाली धरती की सिकुड़न देखती है, उसका मन व्यथित हो जाता है। स्वतंत्रता हृदय सत्ता का सुंदर सत्य है। स्वतंत्रता के सौंदर्यपक्ष तथा सत्य पक्ष के साथ आगे चलकर प्रसाद ने शिवपक्ष की भी जोड़ दिया। स्वतंत्रता के दुरूपयोग पर दक्ष प्रजापति और ब्रह्मा की तरह मनु को भी दंड़ मिलता है। प्रसाद ने मिथक को बारीकी के साथ युग की प्रांसगिकताओं में अभिव्यक्त करने के साथ बहुत–सी जगहों पर कथा तथा प्रकृति के मानवीय चित्रण का अनावश्यक विस्तार कर दिया है। ऐसा भावुकतावश हुआ है, किंतु मुख्य स्थलों पर कवि सार्थक संकेत देने से नही चूका है। श्रद्धा मनु को संदेश देती है कि यह दुखों तथा जटिलताओं डर से अपने भविष्य के प्रति सजग होने से न कतराये । वह उसके अन्दर काम झिझक दूर करती है। काम का संबंध मनुष्य के सृजनात्मक सांस्कृतिक अचेतन से है, मनु का " असफल भावधाम " वस्तुतः उसके अपने घर का असफल देश है। आधुनिक युग में अंग्रेजी पराधीनता के विरुद्ध स्वतंत्रता के मूल्यों की पहचान प्रसाद ने अपने युग के गणतंत्र अथवा जनता के राज्य की पृष्ठभूमि में निम्नवर्ग के देवता शिव के माध्-यम की । शिवगणराज्य और समता के मिथक है। श्रद्धा की स्वतंत्रता भी शिव के मिथक से जुड़कर नया अर्थ व्यंजित करने लगती है। निरन्तर समता के रसात्मक बोध का स्वरुप इस प्रकार है—

विषमता की पीडा से व्यस्त

हो रहा संपादित विश्व महान
यही दुख-सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान
नित्य यही समरसता का अधिकार
उभरता कारण जलधि समान
व्यथा से नीली लहरों के बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान! [68]

प्रसाद ने अतीत के ऐतिहासिक संकटों की पहचान करते हुए स्वतंत्रता एवं समता के सम्मिलित रसात्मक सौन्दर्य की अनुभूति की थीं। यह मनु का नव आशीर्वाद है, जो उसके निरुपण और विवश (परतंत्र) जीवन को आनंद से भर देता है। श्रद्धा जगत का इतिहास —चक्र पहचानती है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में पुरातनता शीघ्र समाप्त होने के लिये बाध्य है। बासी फूल प्रकृति के यौवन का श्रृगांर नही करते , धूल में मिल जाते है। " कामायनी " जीवन से भागने का नहीं, जुड़ने का काव्य है। इस कृति में अवसाद तथा दुखों के यथार्थ की पहचान है। कवि वर्तमान राष्ट्रीय जीवन की उन मौलिक आकांक्षाओं की तलाश करता है, जो उसके युग में उभर रही थी। श्रद्धा कहती है—

तप नहीं केवल जीवन सत्य

---

68. कामायनी—जयशंकर 'प्रसाद'—पृ0—

करुण यह क्षणिक दीन अवसाद
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।
शक्तिशाली हो विजयी बनों
विश्व से गूंज रहा है जयगान। [69]

किस लिए शक्तिशाली होना है ? मनु किससे पराजित हो रहा है कि उसे विजयी होना चाहिए ? जयगान किसका ? यह सारा कथन पराधीनता के उस धारावाहिक प्रलय के संदर्भ में है, जिसने जातीय संस्कृति और इसके स्वप्नों को छिन्न–भिन्न कर दिया था। "कामायनी" का कवि गहरे अर्थो में सांस्कृतिक कवि इसलिए है कि, उसने छिन्न –भिन्न हो रही संस्कृति के जीवन मूल्यों को फिर इकट्‌ठा किया, पराधीनता के काल में जनता के टूटे स्वप्नों को जोड़ा तथा मानव " के रुप में भारत के उस नये संस्कृति–पुरुष की पहिचान की, विजय के बाद जिसका विश्वभर में जयगान गूंजनेवाला है। भारत की मुक्ति विश्व के कई उपनिवेशों की मुक्ति का द्वार खोलने वाली थी । इसके लिए भौतिक जीवन को सत्य मानने,वर्तमान महत्व देने तथा मन में आकांक्षा पैदा करने की जरुरत थी। नयी संस्कृति की यह परिकल्पना समता के रसात्मक सौन्दर्य पर आधारित थी, जिसका मिथक है– विषपायी शिव । प्रसाद ने राम एवं कृष्ण से परहेज किसलिए किया है ? कला स्तर पर वे शिवत्व के पक्षपाती क्यों हुये

? उनका कैलाशलोक पार्वती के साथ शिव की केलि-क्रीडा का स्थल है अथवा सृजनात्मक काम का ? जातीय चेतनों मनः सौन्दर्यवादी इतिहास के माध्यम से कवि ने देव संस्कृति के ध्वंस से लेकर प्रलयोत्तर मनु की श्रमोन्मुखता का तथा देव असफलताओं के कारण एक सभ्यता के हुए पतन के बाद नयी संस्कृति की रचना का जो रुपक तैयार किया उसमें समकालीन भारतीय जनता के भावों का छायावादी ढॉचें में अन्वेषित यथार्थ मिल जाता है। अतः " कामायनी " दीनता पंरतंत्रता और अवसाद के विरुद्ध विजय, स्वतंत्रता तथा समतावादी खुशहाली का काव्य है।

वह मूल शक्ति उठ खडी हुई
अपने आलस के त्याग किये ;
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े
जिसका सुन्दर अनुराग लिये।[70]

काम से बातचीत स्वप्न में होती है, क्योंकि स्वप्न मनुष्य को उस सांस्कृतिक अचेतन से जोड़ता है, जिसमें प्राकृतिक तथा अतिप्राकृतिक प्रतीक जीवित रहते है। स्वप्न का मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन के विकास मे एक योगदान है। स्वप्नबिंब आद्यरूपीय होते है। इसमें संस्कृति की उत्पत्ति से लेकर इसके विकास तक के प्रतीक अपनी असामान्य पद्धति में मिलते है, इसका तात्पर्य यह है कि वह अपनी उन मूल शक्तियों को पहचानता है, जो उसके सृजनात्मक

---

70. कामायनी—जयशंकर 'प्रसाद'—पृ0—

सांस्कृतिक अचेतन में विद्यमान हैं। वह अपने जातीय अनुभवों की शक्ति से साक्षात्कार करता है। प्रसाद की 'कामायनी' स्वप्न से मिथक की ओर विकास करती है। यह स्वप्न उस स्वप्न से भिन्न है, जो श्रद्धा देखती है कि मनु सारस्वत प्रदेश में धराशायी हो गये हैं। श्रद्धा का स्वप्न कथाक्रम को आगे बढ़ाने का साधन है, जिसका महत्व शैलीगत है। मनु का स्वप्नानुभूत काम विश्व की रंगशाला में कृतियों–रचनाओं की मूल प्रेरणा है। मनु आत्मसंशोधन कर अपनी स्वतंत्रता तथा अपने सुखी समाज को वापस पाना चाहता है। काम की एक **प्रेरणा** यह भी थी कि स्वतंत्रता हासिल **करने** के साथ **इसकी हिफाजद तथा विकास** के लिए योग्य बनना होगा। काम प्रेरित होकर बनना होगा। काम प्रेरित होकर मनु मानवतावादी धरातल पर उन विकृतियों के लिए ऋणशोध करने की प्रतिज्ञा करता है, जो देव सभ्यता के ध्ंवस तथा पराधीनता के प्रलय का कारण बनी थीं–

मानव की शीतल छाया में
ऋणशोध करूंगा निज कृति
का। [71]

श्रद्धा मनु को पहली बार नहीं मिली थी। धीर–धीरे पहचानता है कि यह उसकी चिर जीवनसंगिनी थी, जो प्रलय के बाद पुनः मिल गयी है। श्रद्धा का स्वतंत्रता संदर्भ यहां अपनी समग्र प्रासंगिकता पा लेता है। काम की प्रेरणा से उसकी आदिम भावना

---

71. कामायनी–जयशंकर 'प्रसाद'–पृ0–

श्रद्धा से जुड़ जाती है। मनु सामूहिक जीवन एवं इसके दायित्व की ओर अग्रसर होता है|श्रद्धा के माध्यम से स्वतंत्रता की अनुभूति मनु दो स्तरों पर करता है। पहले स्तर पर 'स्मृति नाव' के प्रतीक के माध्-यम से अपने अतीत की स्वतंत्रता की पहचान करता है कि यह श्रद्धा उसकी पुरानी संगिनी है। कामबाला के रूप में उसका साथ पुराना और आदिम है—

वही छवि ! हां वही जैसे ! किन्तु क्या
यह मूल !
रही विस्मृति सिंधु में स्मृतिनाव
विकल अकूल।
जन्म संगिनी एक थी जो काम
बाला, नाम मधुर श्रद्धा था। [72]

कामबाला श्रद्धा को ह्रदय समझने की भ्रांति यहां दूर हो जाती है। संकेतित अर्थ से स्पष्ट हो जाता है कि रचनात्मक स्वतंत्रता ही काम की पुत्री है। लज्जा के संदर्भ को समेटते हुए देखें, तो प्रसाद ने वस्तुतः श्रद्धा के रूप में प्रतिबद्ध स्वतंत्रता की बात की है। प्रसाद पराधीन भारत के सांस्कृतिक उत्कर्ष को प्रतिबद्ध सृजनशीलता के माध्-यम से पाना चाहते थे। सृजनशीलता की प्रतिबद्धता के बिना इड़ा के रूप में बौद्धिक कला तथा विज्ञान व्यर्थ है। बौद्धिकता और विज्ञान मनुष्य की परवर्ती परिपक्व उपलब्धियां हैं। प्रतिबद्धता कवि का सामाजिक

---

72. कामायनी—जयशंकर 'प्रसाद'—पृ०—

दायित्व है, जिसके कारण कोई भी सृजन समूह के मंगल अथवा शिवत्व से जुड़ जाता है। ईमानदार स्वतंत्रता की प्रतिबद्धता अंकित करने के लिए श्रद्धा एवं लज्जा के मध्य कवि ने एक संवाद आयोजित किया है। श्रद्धा लज्जा से सवाल करती है–

तुम कौन ? ह्रदय की परवशता ?
सारी स्वतंत्रता छीन रही ;
स्वछन्द सुमन जो खिले रहे
जीवन वन से ही बीन रही। [73]

निश्चय ही स्वतंत्रता पहली नजर में प्रतिबद्धता को संदेह की नजर से देखती है। श्रद्धा ने उपरोक्त सवाल इसी आशंका से किया है। लेकिन प्रतिबद्धता के रूप में लज्जा बतलाती है–

इतना न चमत्कृत हो बाले।
अपने मन का उपचार करो,
मैं एक पकड़ हूं जो कहती
ठहरो कुछ सोच विचार करो

....

मैं रवि की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ :
मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर सी लिपट जाती हूँ। [74]

✦✦✦✦✦

---

73. कामायनी–जयशंकर 'प्रसाद'–पृ०–
74. कामायनी–जयशंकर 'प्रसाद'–पृ०–

❁ राम की शक्ति पूजा (4) ❁

सृजन के लिए आत्मसंघर्ष जरूरी है, ' राम की शक्तिपूजा ' की समग्र संरचना में मुख्य संदेश यही है। निराला का आत्मसंघर्ष सामाजिक के साथ–साथ सांस्कृतिक संघर्ष भी है। उन्होंने राम को हिंदू रूप में नहीं चुना। उन्हे एक ऐसे धर्मनिरपेक्ष नागरिक के रूप में देखा, जो निर्बल और संशयग्रस्त होने के अलावा भीतर से अत्याधिक विचलित भी है। इस कविता में दुर्गा की आराधना में 108 कमल चढ़ाने का संदर्भ किसी धार्मिक पद्धति अथवा योग क्रिया का अंग नहीं है। रमेश कुंतल मेघ ने इस कविता को मिथक के प्रभावमंडल से आच्छादित बतलाते हुए लिखा–''काव्य के प्रधान मिथक में शक्ति के रूप में रहस्यवाद गुंथ जाता हैं।'' शक्तिपूजा में रहस्यवाद होता, तो एक कमल के चोरी चले जाने पर राम की निस्सहायता कवि जीवन के यथार्थ का प्रतिरूप नहीं बन पाती और अपने युग में समूची मनुष्यता ही ठीक वैसा अनुभव नहीं कर रही होती। रहस्यवाद भाव स्थितियों को प्रत्यक्ष जगत, वर्तमानता और मानव जीवन की समस्याओं से काट देता है। इसके विपरीत छायावादी कविता आम तौर पर संसारवादी थी। वह एक भविष्य दृष्टि रखते हुए भी वर्तमान केंद्रित, एतिहासिक सापेक्षता से संयुक्त और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा से भरी जीवन प्रवृत्तियों की सूचना थी निराला की दृष्टि जीवन की इन नयी प्रवृत्तियो के बारे में जागरूक थी। वह प्रेम और नैतिकता के

साथ धर्म को भी अपने समय के परिवर्तनशील आदर्श के रूप में देख रहे थे और अपनी धरती की जरूरत पहचान रहे थे। वह कौन सी घटना थी ? जिसने निराला को उपरोक्त कविता लिखने पर मजबूर किया ? वह घटना बहुत निजी और आंतरिक थी या सामाजिक एतिहासिक ? उस घटना ने कैसा प्रभाव डाला ? वह घटना थी सांस्कृतिक पतनशीलता की, जिसने उस युग के प्रायः सभी कलाकारों के अंतर्मन को उद्वेलित करना शुरू किया था। निराला को उसने खास तरह से उद्वेलित किया, क्योंकि उनका व्यक्तित्व भी वह एक एतिहासिक बाधा थी। कवि दुख और निराशा से भरे अपने जीवन में परंपरा और मानवीय अस्तित्व दोनों के प्रति संशयशील हो उठा था। कला की उपेक्षा उसे अपने व्यक्तित्व की अवहेलना लगती थी। साहित्यिक संस्कृति में फैलता वायुप्रदूषण उसे भीतर से खौला देता था। उसे लगता था कि 'बाहर मैं कर दिया गया हूँ। भीतर पर, भर दिया गया हूँ।' वह कई बार 'ड्रॉप आउट' के अनुभव से गुजरे। इस तरह 'राम की शक्तिपूजा' की रचना के पीछे एक तरफ कवि द्वारा वैयक्तिक जीवन में सहे गये विरोधों—कष्टों की सक्रिय भूमिका रही, दूसरी तरफ उन बाधा— विपत्तियों ने भी अपनी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति पायी, जिनसे समस्त राष्ट्रवादियों का राजनैतिक—सांस्कृतिक जीवन घिरा था। आधुनिक राम के संशय का आधारभूत केन्द्र रावण—जय—भय था। यह संशय मामूली नहीं था, क्योकि इसकी वजह से मनुष्य का

अपने पर से विश्वास उठ जाने का खतरा था। राम का हर संशय युग के यथार्थ को प्रकट करता है। निराला ने अपने जीवन के अंतर्विरोधों को जितना खुलकर व्यक्त किया, युग का सामाजिक जीवन भी उतना ही 'एक्स्पोज' हुआ। राम के निराश भरे निम्न कथन से ऊपर की बात स्पष्ट हो जाती है–

धिक् जीवन जो पाता ही आया है
विरोध
धिक् साधन जिसके लिए सदा
ही किया शोध।
जानकी ! हाय उद्धार प्रिया का न
हो सका।[75]

राम की शक्ति पूजा की पृष्ठभूमि में गहन निराशा का उपरोक्त स्वरूप इस कविता को 'देवी भागवत' के राम–रावण युद्ध प्रसंग अथवा पुंडरीकाक्ष विष्णु द्वारा शिव की आराधना की पौराणिक परंपरा से अलग कर देता है। कहा गया है कि निराला ने कृतिवास कृत बंगल रामायण से काफी प्रभाव ग्रहण किया है। बंगाल की जमीन संस्कारत जुड़े होने के कारण उन्होने कृतिवासीय रामायण से कच्चे माल के रूप में कुछ कथानक संदर्भ चुने हैं।

रवि के अस्त होने के बाद लौटते वानर दलों की बुरी हालत देखकर प्रारम्भ में ही आभास हो गया था कि रावण अधिक

---

75. राम की शक्तिपूजा– निराला–पृ०–

ताकतवर है। आधुनिक राम कथा में रावण व्यवस्था की कुरूपताओं का मिथकीय रूप है और राम हताशा से घिरे किंकर्तव्यविमूढ़ आम आदमी का प्रतिबिंब। राम का धनुष श्लथ पड़ा है, कटिबंध खुले है और दृढ़ जटा–मुकुट विपर्यस्त हो गया है। प्रकृति ने घनघोर रूप धा-रण कर लिया है। घने केश खुलकर बाहुओं तथा चौड़े वक्ष पर इस प्रकार फैल गये है, मानों किसी विराट दुर्गम पर्वत पर रात्रि का अंध-कार छा गया हो। रात्रि का अंधकार छाया भी है, तो निराला सौंदर्यबोधात्मक स्तर पर यह एहसास कराने से नहीं चूकते कि यह ऐसे पर्वत पर छाया है, जो अत्यंत विराट और दुर्गम है।

हनुमान को एतिहासिक परिस्थतियों का वह ज्ञान न था, जो राम को था। राम समझ गये कि कुशल साम्राज्यवादी रावण से लड़ने के लिए परंपरागत औजार व्यर्थ हैं, रावण शक्ति के एक ही रूप श्यामा के सहयोग से अधुनातन क्षमताओं के साथ लड़ रहा है। और बड़ा ही कुशल है। हनुमान परिस्थिति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाता। राम के दुख–नैराश्य से सिर्फ उद्धेलित होकर वह अति वामपंथी रास्ते की तरफ बढ़ता है। उसकी पीड़ा सही थी और उद्देश्य सच्चा था। किंतु बाल समय में सूर्य को निगलने का उसका बचकाना मर्ज फिर उभर गया था। राम अपनी प्रकृति और उसके एतिहासिक द्वंद्ववाद से विच्छिन्न हो गये थे, इस तथ्य को पकड़कर जाम्बवान ने मनुष्य में छिपी अपराजेय शक्ति के प्रति आस्था व्यक्त करते हुये एक

संभावना का उद्घाटन किया—

रावण अशुद्ध होकर भी यदि
कर सका त्रस्त
तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे
उसे ध्वस्त
शक्ति की करो मौलिक कल्पना,
करो पूजन[76]

जाम्बवान राम को पुरूषसिंह कहकर संबोधित करता है, ताकि उनकी सामाजिक स्मृति ताजा हो जाये। उसके कथन से मूलतः 'जागो फिर एक बार' की ध्वनि निकलती है, शत्रुपक्ष को भयानक मानते हुए भी निराला ने उसे स्यार से ऊंचा दर्जा नहीं दिया।

शक्ति की मौलिक कल्पना परंपरागत आराधना पद्धति द्वारा नहीं की जा सकती। निराला की इस कविता में आराधना पद्धति का कोई महत्व है। शक्ति मौलिक कल्पना का। क्योंकि एक व्यापक जनयुद्ध लड़ा जाना था, निराला ने आराधना पद्धति के बिंबो को भी जुझारू बना दिया। शक्ति की मौलिक कल्पना की प्रक्रिया जैसे जैसे विकसित होने लगी। सारा विश्व स्तब्ध हो गया। फिर भी दुर्ग पर विजय के निकट जाकर भी राम छले गये। दुर्गा ने राम का हाथ थाम लिया। वह विविध अस्त्रों से सज्जित थी। उनके बायें लक्ष्मी और सरस्वती थीं, दायें गणेश और कार्तिक। महाशक्ति ने प्रसन्न होकर

76. राम की शक्तिपूजा— निराला—पृ०—

कहा—

निराला अच्छी तरह समझ रहे थे कि सामाजिक राजनैतिक अत्याचारों के खिलाफ सभी जनशक्तियों जब तक संयुक्त होकर नये ढंग से नही लड़तीं अच्छे मानव भविष्य की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। इसलिए राम के पक्ष से निराला नहीं व्यूह रचना का ही संकेत नहीं दिया, नर—वानर रीछ—सभी शोषितों उत्पीड़ित स्वरूप एकता के अखंडित स्वरूप की कल्पना की। बुराई के खिलाफ अच्छाई का संघर्ष दीर्घ—काल से मानव जीवन में चलता रहा है, सिर्फ इसके स्वरूप में अंतर आ जाता है। निराला के युग में भी यह संघर्ष अपने चरम पर था। 'राम की शक्ति पूजा' उसी के दौर की एक नयी काल्पनिकता है, जो अपने समय के अति तीक्ष्ण और कठोर यथार्थ पर आधारित है। वह पूरे युग की व्यथा और निराला की आत्मकथा दोनो हैं।

❁ रश्मिरथी (5) ❁

आधुनिक जीवन की संवेदना को मिथकीय स्तर पर व्यक्त करने में महाभारत के कथा प्रसंगो ने प्रभावशाली भूमिका निभायी है। यह आकस्मिक घटना नहीं है कि वर्तमान समाज की जटिलताओं के मध्य रामायण की अपेक्षा महाभारत के पात्र हमारी संवेदना के अधिक नजदीक आ गये। खुद महाभारतकालीन समाज एक जटिल एवं बहुपर्त्तों वाला समाज था, जिसकी आंतरिक अखंडता प्रायः मिट चली थी। पूरे महाभारत को हम इतिहास न भी मानें, पर महाकाव्य के ढांचे में एक वास्तविक समाज की सुदीर्घ सांस्कृतिकार्थिक अवस्था बिल्कुल प्रतीकीकृत न हुई होगी, ऐसा नहीं माना जा सकता। कल्पना के साथ बहुत कुछ इतिहास की भी सामग्री थी, जिसे सार्वभौम और सार्वकालिक संरचना में वेदव्यास ने उपस्थित किया था। महाभारतकालीन ढांचे में कर्ण का चरित्र केन्द्रीय महत्व की अपेक्षा सामरिक महत्व का अधिक होते हुए भी, एक सामाजिक शक्ति की ओर संकेत करता था। इसकी मान्यताओं को उस युग में स्वीकृति नहीं मिल पायी, क्योंकि महाभारतकार का लक्ष्य कृष्ण की राजनैतिक रणकुशलता का ही दार्शनिकीकरण करना था। अध्यात्मिकता की विचारधारा ने कृष्ण के रणकौशल को दिव्यता प्रदान कर दी थी और कर्ण की मान्यताओं को धराशायी कर दिया था। मान्यताओं की यह टकराहट जीवन युद्ध में साधनागत मूल्यों की शुद्धता और अशुद्धता को लेकर थी। कर्ण दुर्योधन के पक्ष

से लड़ा, किन्तु वह अपने साध्य की ओर बढ़ने के लिए साधनों की शुद्धता पर उतना ही बल देता था, अन्यथा वह अर्जुन का नाश करने के लिए सर्प अश्वसेन का उपयोग कर लेता। वह मानव जाति का प्रतीक था, इसलिए सांपो से मिलकर लड़ना वह नीचतन समझता था। कृष्ण पांडवों के पक्ष में रहे। साध्य की ओर बढ़ने के लिए उन्होंने साध ानों की शुद्धता –अशुद्धता के सवाल को गौण माना। उनके लिए मुख्य चिंता थी कि यह युद्ध व्यापक जीवन मूल्यों को स्थापित करने के लिए असत पक्ष के विरूद्ध सत पक्ष से लड़ा जा रहा है, अतः इसमें किसी भी तरह विजय हासिल की जाये।

धार्मिक रूढ़िवादी ने विजयी समूह के सत्य को प्रचारित और प्रतिष्ठित किया। संस्कारो में उसकी जड़ें फैलायीं। इसलिये हम बार–बार जिस संस्कृति के बारे में सोच पाते है और बात करते हैं, वह शासक वर्ग की प्रभु संस्कृति है। इस संस्कृति में गुलाम सोच पाते है और बात करते है, वह शासक वर्ग की प्रभु संस्कृति के नीचे दबे क्रान्तिकारी तत्वों अलिखित या अल्पलिखित इतिहास को खोजना और ऐसे नये मानव भविष्य की ओर बढ़ना है, जिसमें पुरूष–औरत तथा अमीर–गरीब के भेदभाव के साथ अगुवा–पिछड़ा के जातिभेद का भी वास्तविक उन्मूलन हो जाये। दिनकर के प्रंबध काव्य रश्मिरथी का कथ्य यही है, जो मानवता का संदेश बनकर आया है, जिसके आलोक में कर्ण का चरित्र देदीप्यमान हो उठा है। कर्ण एक नयी सामाजिक

शक्ति के उदय का प्रतीक बनकर प्रमाणित कर देता है कि शील और ओज द्विजत्व का ही पर्याय नहीं है। यह दलितों उत्पीड़ितों और वस्तुतः समूची मनुष्यता का गुण है। वह मनुष्य मात्र के व्यक्तित्व की गरिमा, स्वतंत्रता, समता और प्रगति के लिए चिंतित रहता है। उसकी चिंता वायवीय नहीं है, यह वह अपने जीवन–संघर्षो से प्रमाणित कर देता है।

सिंद्धांततः उपरोक्त बात आज भी स्वीकार की जाती है, किंतु राष्ट्रवादी आंदोलन की बाढ़ उतरने के बाद से हम देखते हैं कि जाति का अहंकार पहले से बढ़कर अधिक हिंसात्मक हुआ है। यह खत्म नहीं हो सका। इस प्रंसग में कर्ण द्वारा सामाजिक मान्यता के लिए संघर्ष मानवता का एक जरूरी विषय बन जाता है और आज भी उसकी प्रांसगिकता उसी प्रकार दिखती हैं, क्योंकि आधुनिक समाज की परिकल्पना के बावजूद इस व्यवस्था में जाति–विद्वेष निरंतर तीर्व होता गया। फिर भी कर्ण के संघर्ष को 'कास्ट–बार' की संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। दिनकर का ऐसा अभिप्राय भी नहीं था। जाति विद्वेष खत्म करने के संघर्ष को उन्होंने शोषित मनुष्यता के समग्र संघर्ष के भीतर रखकर देखा था। विषमता की आग में चारों ओर जलने तथा पग–पग पर बाधा–विपत्ति का अनुभव करने वाले विशाल सर्ववंचित

मैं उनका आदर्श जिन्हें कुल का
गौरव ताड़ेगा,
नीचवंश जन्मा कहकर जिनको जग
धिक्कारेगा,
जो समाज की विषय वह्नि में चारों
ओर जलेंगे,
पग पग पर झेलते हुए बाधा निस्सीम
चलेंगे।
मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा
न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न
बोल सकेंगे,
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं
न अपना होगा,
मन में लिये उमंग जिन्हें चिर काल
कल्पना होगा [77]

दुर्योधन के पक्ष में रहकर भी कर्ण का यह अनुभव करना कि यह उनका आदर्श है, जिनका निखिल विश्व में कोई नहीं है, अकेलेपन की पीड़ा का रोमानी अनुभव है। यह अनुभव कर्ण को दुर्योध-न के असत दायरे से ऊपर उठा देता है और उसे मुख्यतः अपने

---

76. रश्मिरथी– दिनकर–पृ0–

सर्ववंचित वर्ग से प्रतिबद्ध सिद्ध करता है। क्योंकि इंद्र के छल का जवाब अपनी मानवता से देते हुए कर्ण यह भी कहता है कि श्रम से विमुख न होने वालें, दुख से नहीं डरनेवालों तथा सुख के लिए पाप से संधि न करने वाले मनुष्यों का वह आदर्श है।

सूर्यपुत्र होकर भी कर्ण को लगातार अंधेरे से जूझना पड़ा। उसने राजकीय पद या गुरूकृपा से अपना महत्व अर्जित नहीं किया, बल्कि निरंतर संघर्ष से अपना व्यक्तित्व निर्मित किया। कितने लोग चुपचाप कष्ट सहकर गुजर जाते हैं, तब जाकर कर्ण की तरह बोलने और लड़ने वाला एक इंसान उभरता है। वह युधिष्ठिर से अधिक सत्यवादी एवं धर्मनिष्ठ, कृष्ण से बड़ा त्यागी, अर्जुन से बड़ा वीर, एवं कौरव पक्ष का सर्वाधिक कुशल सेनापति था।

महाभारत का युद्ध हाथों एवं मन पर कालिख पोत कर लड़ा जाने वाला युद्ध था, किंतु कर्ण कभी अवसरवाद का सहारा नहीं लेता। वह अवसर पाकर भी युधिष्ठिर, भीम, नकुल तथा सहदेव को अपने वचन का पालन करता हुआ छोड़ देता है। वह कूटनीति दृष्टि से भूल करता है, किंतु अपने व्यापक ह्रदय का परिचय देकर वह मानवता को शुद्ध अवसरवाद के ऊपर प्रतिष्ठित भी करता है। शल्य के टोकने पर जबाव देता है—

समझोगे नहीं शल्य इसको, यह करतब
नादानों का है,

यह खेल जीत से बड़े किसी मकसद
के दीवानों का है।
जानते स्वाद इसका वे ही जो
सुरा स्वप्न को पीते हैं,
दुनिया में रहकर भी दुनिया से
अलग खड़े जो जीते हैं।। [78]

असमानता और हिंसा के परिवेश में तमाम प्रतिकूलताओं के बीच जो बात किसी व्यक्ति को मनुष्य बनाती है, कर्ण में वह बात है। मनुष्य होकर संघर्ष करने में जीवन की व्यथा का जन्म होता है, कर्ण उस व्यथा का मौन वरण करता है। महादेवी के दीपक की भांति चुपचाप मधुर–मधुर जलता रहता है और अपनी करूणा भी व्यक्त करता है। वह मनुष्यता की उस सीमा तक पहुंचना चाहता है 'जिसके आगे राह नहीं'। कर्ण के प्रति दिनकर का एप्रोच रूमानियत से मुक्त नही है।

दलितों का नायक कर्ण न्यायशील ढंग से लड़ता हुआ अंततः छल से मारा जाता है। अभिजात वर्ग के कुचक्र से उस घड़ी वह मारा जाता है, जब निरस्त्र था—अपने रथ के, अर्थात अपने भीतर की समस्याओं में तिक्त होकर उलझा हुआ था। वह चेहरा एक विरोधी का चेहरा था। अभिमन्यु के हाथों में रथ का टूटा हुआ पहिया। सर्वहारा दलित वर्ग अपनी भीतरी परेशानियों में उलझकर छल का

---

78. रश्मिरथी— दिनकर—पृ0—

बारंबार शिकार होता है। किंतु मरते समय भी कर्ण की वीरता दहाड़ उठती है। अपनी विषम स्थिति की ओर संकेत करते हुए वह कृष्ण से व्यंग्य पूर्ण आग्रह करता है। कि उस पर वे सुदर्शन ही क्यो नही उठा लेते। कर्ण धराशायी होकर भी विजयी रहा। धर्मपालन में उसने अपने को युधिष्ठिर से भी श्रेष्ठ प्रमाणित किया। मृत्यु के वक्त भी धर्म पालन में उसने अपने को युधिष्ठिर से भी श्रेष्ठ प्रमाणित किया। इसी वजह से कर्ण अपनी मृत्यु के वक्त भी अपने संचित पुण्यों के कारण आत्मा में ज्योतियों का लहराता समुद्र अनुभूत करता है। उसके लिए रश्मियों का रथ आता है। जीवन की उच्चतर स्थिति की ओर ले जाने के लिए। कवि ने कर्ण को रश्मिरथी कहा। कृष्ण उसकी सराहना करते हुए उसे मनुजता का जेता घोषित करते हैं। महाभारत में वही एक पूरा मनुष्य था। कर्ण का मिथक मनुष्यता का सर्वनाम है। यह मनुष्यता आध्यात्मिक न होकर, प्रगतिशील संघर्ष की पक्षधर थी। यह बात है कि दिनकर आगे चलकर अंध राजभक्त एवं संसद के कवि बन गये। उन्होंने 'उर्वशी' के रूप में एक कलावादी काव्यकृति लिखी। किंतु उनके पुराने संघर्षशील राष्ट्रभक्त रूप की सबसे सार्थक अभिव्यक्ति मानववादी कृति 'रश्मिरथी' ही है।

❁ उर्वशी (6) ❁

कविता के आधुनिक मिथकों को समझना वस्तुतः भाषा की सृजनशील क्षमताओं की पहचान के साथ संवेदना के विचार धारात्मक आधार को भी जानना है। हर मिथक में संवेदना और विचारधारा का मेल एक नये स्तर पर होता है। गहन सांस्कृतिक प्रवाह में नये–नये वैचारिक मोड़ो पर किसी मिथक के मूल ढांचे के सुरक्षित रहते हुए भी उसकी संवेदना इतनी बदल जाती है कि मिथक का एक नया चेहरा उपस्थित हो जाता हैं वह हमें प्रिय भी लग सकता है अप्रिय भी। उसकी संवेदना का धरातल प्रगतिशील भी हो सकता है, प्रगतिगामी भी। 'उर्वशी' सातवें दशक की कृति होकर भी काव्य संवेदना के स्तर पर छायावाद को नये धरातल पर लौटाने की समारोह पूर्ण कोशिश है। इसकी रोमांटिकता नये किस्म की है, क्रांतिकारी है अथवा उसमें मध्युगीन पतनशीलता के तत्त्व हैं, इस पर विचार करना चाहिए और देखना चाहिये कि दिनकर ने उर्वशी के मिथक का किस तरह इस्तेमाल किया।

भाषा को मिथकाभिव्यक्ति के स्तर पर अपने जिस संकट से जूझना पड़ता है, वह मूलतः वस्तु का संकट है। रचनाकार को कचोटते जीवन यथार्थो की सीधी भाषा जहां नही मिलती, मिथक की कविता को भाषा के संकट से मुक्त करता है। भाषा मिथक को पाकर गहरी सृजनात्मक शक्ति से जुड़ जाती है। और अपनी कुछ आदतें

बना लेती है। ये आदतें भाषा के विकास में अवरोधक का काम करती है। आधुनिक मिथकविता में भाषा एक स्तर पर अपने संकट का सामना करती है, दूसरे स्तर पर वह अपनी बनी बनायी आदतों से छुटकारा भी चाहती है। ये आदतें, छायावादी किस्म की हो सकती है, प्रयोगशील किस्म की भी। ये वाममार्गियों की कामसाधना के किस्म की हो सकती हैं, और सूफी कवियों की आध्यात्मिक सौंदर्य बोधात्मक शैली की भी। अर्थात काव्य भाषा की ये आदतें नजदीक हो सकती हैं और दूर की भी। छायावादी कवियों की स्वछंद चेतना ने, द्विवेदी युगीन भाषा की आदतों से छुटकारा पाया। यह भाषा की बंधनमुक्ति है। दिनकर की 'उर्वशी' की भाषा बंधनमुक्त नहीं है। वह पुरानी आदतों से घिरी हुई है। यह कृति छायाावादोत्तर युग की रचना होते हुए भी रोमांटिक है। उर्वशी पुरूरवा का नया मिथक मध्यकालीनतावाद की परिणतियोंमनुष्यतेतर अंधास्था , परतंत्रता तथा शोषण पर आधारित है। उर्वशी न उस तरह की छायावादी कृति है, जिस तरह की 'कामायनी', न इसका मध्यकालीनतावाद सिद्धों और जायसी की कोटि का है। यह कविता और संस्कृति के भीतर परिश्रमपूर्ण मंथन से निकली एक रूढ़िग्रस्थ कति है, क्योकि इस मंथन का आधुनिकता या सामाजिक प्रासंगिकता से किसी प्रकार का सरोकार नहीं है। 'उर्वशी' पर भाषा आध्यात्मिक संकट अपनी भव्य आदतों के साथ काबिज हो गया है।

'उर्वशी' मिथक पर आधारित एक काव्य है। उर्वशी–पुरूरवा के मिथक की एतिहासिकता से एतराज और स्वीकार दोनों हो सकता है। न यह घटनाक्रम से बंधा इतिहास है, न धर्मदृष्टि से समन्वित मिथक। यह इतिहास है आदिम युग के सामाजिक मूल्यों के बदलाव और इसके परिप्रेक्ष्य में दो जातियों के काम संबंधों की जटिलता का और मिथक है प्रेम की स्वच्छंदता का। छायावादी काव्य–भाषा से इसका अंतर्संबंध इसलिए भी स्वाभाविक है कि पुरूरवा तथा छायावाद दोनों ने ही स्त्री–पुरूष संबंध की नैतिकतावादी परंपरा को चुनौती दी। छायावाद ने अपनी पत्नी औशीनरी को। मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा तथा दिनकर की पुरूरवा की पत्नी औशीनरी के मानसिक संघटन में बहुत कम फर्क है। राधा, उर्मिला तथा यशोधरा अपने–अपने प्रेमी से अलग होकर भी उनके मार्ग में बाधक नहीं बनती, बल्कि उनका सृजनात्मक विरह राष्ट्रीय आदर्शो तथा लोकसेवा में रूपांतरित हो जाता है। औशीनरी को एक कदम आगे बढ़कर अंकपित दीपशिखा की जलन सहनी पड़ती है, जब उसकी आंखो के सामने उसका पुरूरवा उर्वशी से स्वच्छंद बिहार करने के लिए गंधनादन जाता है। वह प्रेम मूल्यों में स्पष्ट परिवर्तन देखती है, परन्तु मन में मौन यंत्रणा झेलते हुए अंततः रोमानी रूझान के साथ सब कुछ स्वीकार कर लेती है–

कौन कहे ? यह प्रेम हृदय की बहुत
बड़ी उलझन है
जो अलभ्य है, जो दूर, उसी को
अधिक चाहता मन है।[79]

उर्वशी के मिथक को अपनी कविता में स्थापित करते हुए कवि ने उसकी उत्पत्ति के संबंध में कई विचार रखें हैं। उसे सागर की आत्मजा, नारायण की मानसिक तनया, उषा, इंद्र के मन की कामना, देवताओं के रक्त में मधुमय आग लगाने वाली, रति की मूर्ति, देश काल से परे चिरंतन नारि इत्यादि कहा है। इस कल्पना में वैदिक मिथक–शास्त्र (उषाओं) से लेकर छायावादी मिथकीय दृष्टि (मधुमय आग) तक के सांस्कृतिक सोपान मिल जाते हैं। इस संदर्भ में विचारों की इस परंपरा से गुजरते हुए दिग्भ्रमित–सा हो जाता है। वह उर्वशी के इतने निकट आ गया कि उसकी पहचान धुंधली हो गयी। अंततः कवि रूपकीय पद्धति से उर्वशी को प्रकृति की प्राणकथा कहता है तथा एक अन्य स्तर पर उसे मानसिक बिंबो में व्यक्त करता है। वह काव्य के प्रस्तुत स्तर पर एक अप्सरा है। उर्वशी स्वयं कहती है–

मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी
प्राणकथा है,
उसी भांति निस्सीम, असीमित जैसे
स्वयं प्रकृति है।

79. उर्वशी– दिनकर–पृ०–

\+ \+ \+ \+

मैं मनोदेश की वायु, व्यग्र,

व्याकुल चंचल

अवचेतन प्राण की प्रभा, चेतना

के जल में

मैं रूप–रंग–रस–गंध पूर्ण साकार

कमल

....

मैं नाम गोत्र से रहित पुष्प

अम्बर से उड़ती हुयी मुक्त आनंद

शिखा

इतिवृत्ताहीन,

सौन्दर्यचेतना चेतना की तरंग,

सुन नर किन्नर गंधर्व नहीं

प्रिय ! मैं केवल अप्सरा

विश्वनर के अतृप्त इच्छा–सागर

से समुद्भूत।[80]

हम स्पष्ट देखते है कि उर्वशी का मिथक रूपककथा (एलगरी) के स्तर पर प्रकृति की भाषा (परमेश्वर के लिए), मन की भाषा (अध्यात्म के लिए) तथा अप्सरा जाति की भाषा (सामाजिक काम

80. उर्वशी– दिनकर–पृ0–

जटिलता के लिए) में, सांस्कृतिक अनुभवों, विचारों तथा आस्थाओं कल्पनाशील संगठनात्मकता के साथ विकसित होता है। मिथक प्रेम, युद्ध, घृणा, भय, सृजन इत्यादि से संबंधित सामूहिक भावनाओं एवं विचारों का सबसे बड़ा सांस्कृतिक संगठनकर्ता है। किसी मिथक की परंपरा में कई तरह के अनुभवों तथा सोच का समूह काम करता है। किसी रचनाशील कवि के सामने सवाल यह उपस्थित होता है कि इन पुराने संगठनों के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक भावभूमि को वह अपनी संस्कृति की नयी आकांक्षाओं के आधार पर किस प्रकार उजागर करे। मिथक भाषा की केन्द्रीय समस्या के रूप में यही सृजनात्मक कार्य करता है। दिनकर की 'उर्वशी' के मिथक की गवाहियों में अनेकरूपता है, जिसमे संप्रेषणीयता के स्तर पर भी भाषा का मामला उलझ जाता है।

ले जाना है यह समूह नगपति के
तुंग शिखर पर
वहां जहां कैलाशप्रान्त में शिव
प्रत्येंक पुरूष है
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक
प्राणयिनी नारी
पर कैसा दुःसाध्य पंथ ! कितना
उड्डयन कठिन है।[81]

81. उर्वशी– दिनकर–पृ0–

प्रसाद की 'कामायनी' आनंदवाद का अनुवाद लगते हुए भी उपरोक्त पंक्तियां इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि कवि ने कल्पलोक वायवीयता से जीवन का यथार्थ पूरी तरह ढंक दिया है। शिवत्व की मिथकीय भावना नैतिकता तथा आनंद दोनों से जुड़ी है। शिव का सर्वसाधारण से सीधा सरोकार है तथा सांस्कृतिक अचेतन का वह एक शक्तिशाली मिथक है। इस मिथक की आधुनिक परिकल्पना को नहीं उभारकर कवि ने शिव की रासलीला करा दी है। इसी के साथ कवि फ्रायड की उक्ति भी लेता है कि अपूर्त दिवास्वप्न मनुष्य को रात्रि के स्वप्न में किस तरह घेर लेते है—

वही रात आने पर कैसे हमें घेर
लेते हैं
ज्योतिर्मय जाज्वल्यमान आलोक
शिखायें बनकर
निशायोग जागृति का क्षण है और
उदग्र प्रणय की
एकायनिक समाधि काल के इसी
गस्त के नीचे
भूमा के रस पथिक समय का
अतिकमण करते है।

योगी बंधे अपार योग में प्रणयी
आलिंगन में।[82]

उर्वशी दिन नहीं रात्रि की कथा है। प्रकाश नहीं छाया का संदर्भ है। वह सामाजिक निषेधों, वर्जनाओं तथा अस्वीकारों से बनी भावमूर्ति है। फ्रायड ने रात्रि स्वप्न को दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति कहा है। उर्वशी दमित काम भावना की अभिव्यक्ति के रूप में पुरूरवा के जीवन में आती है। किंतु फ्रायड ने इस स्वप्न को परेशान करने वाला, कचोटने वाला बतलाया है, जिसे कवि ने आलोक शिखाओं से जोड़कर ऊर्ध्वमुखी रचनात्मकता में बदल दिया है। शिव भी वैदिक देवताओं द्वारा सताया गया मिथक है।

82. उर्वशी— दिनकर—पृ0—

❁अंधा युग❁

'अंधायुग' में निराशा, दृष्टिहीनता, निष्क्रियता और पशुता के उदय का वास्तविक परिप्रेक्ष्य क्या है ? युग ही अंधकार में डूब रहा है अथवा यह व्यक्ति का अंधापन है ? ईश्वर के मरने के बाद विज्ञान के हाथों में मानव भविष्य किस सीमा तक सुरक्षित है ? आधुनिक समाज की आत्मविध्वंसक प्रवृत्तियां अगर इसी समाज की उपज हैं, जिस तरह विकृत अश्वत्थामा युधिष्ठिर के अर्धसत्य की उपज है, तो निषेध का निषेध क्या है, अर्थात् मानव समाज के नवनिर्माण की दिशा क्या है ? धर्मवीर भारती के के काव्य नाटक 'अंधायुग' की मिथकीय संरचना पर कोई भी बातचीत इन सवालों को ध्यान में रखकर करनी चाहिए और मूल्यांकन करके देखना चाहिए कि काव्य नाटककार ने किस विचारधारात्मक अनुशासन में महाभारत के मिथक को नया रूप दिया है।

प्रहरी और वृद्ध याचक (जरा) के कथन ही 'अंधयुग' की मिथकीय संरचना के नये तत्व वे इसलिए आधारभूत हैं कि उन्हें घेरकर इस काव्यनाटक का समूचा संकेतात्मक ढांचा बदल गया है, जिसमें महाभारत के पात्रों और घटनाओं का समूचा उपक्रम किया गया है जिसमें महाभारत का पात्रो और समूचा संकेतात्मक ढांचा बदल गया है और 'प्रख्यात' सिर्फ बाहरी शरीर भर है। ये नये तत्व साठवें दशक के उस सामाजिक परिवेश की देन हैं, जिसमें पश्चिमी

विज्ञान द्वारा अणु आयुधों के विस्तार विज्ञान से विश्व—शांति और मानवीय गरिमा दोनों पर खतरा उत्पन्न हो गया था। पूंजीवादी समाज में कुंठा, निराशा, हिंसा, विच्छिन्नता, आत्मघात, छल प्रपंच तथा अन्य मानवीय विकृतियां बढ़ती जा रही थीं। धर्म का पंरपरागत संसार अपनी रूढ़ियों के साथ ध्वस्त होने लगा था और बुद्धिवाद के कारण ही संशय ही जीवन के एक बड़े मूल्य के रूप में स्थापित हो गया था। अंधायुग के काव्य परिवेश के राजनैतिकार्थिक आधारों को भूलना नहीं चाहिए। नयी कविता युग की राजनैतिक स्थिति के बारे में सभी जानते हैं कि अंग्रेजो के पतन के बाद नयी शासन व्यवस्था से लोगों को मोहभंग होना शुरू हो गया था। इसके विरोध में वामपंथी ताकतें राष्ट्रीय स्तर पर उभर नहीं पा रही थी, जबकि जनता की आर्थिक समस्याओं का आंशिक समाधान भी नहीं हो पा रहा था। कला के क्षेत्र में प्रगतिवादी आंदोलन नयी कविता अथवा नयी कहानी के भीतर समाहित होकर भटक गया था। कला और समाज का पूरा वातावरण ऐसा था कि यथार्थ की पहचान मानववादी आयामों मे ही हो पा रही थीं। धर्म की सामाजिक—नीति शास्त्रीय संस्थाए और विज्ञान के यंत्र अपने—अपने ढंग से मानवीय गरिमा पर आघात कर रहे थे। इसलिए सामंती व्यवस्था की रूढिवादिता, पूंजीवादी व्यवस्था की विच्छिन्नता तथा वैज्ञानिक व्यवस्था के संहारक रूप को लेकर एक भावात्मक असहमति पूरे समाज में फैलने लगी थी।

उस दिन जो अंधायुग अवतरित
हुआ जग पर
बीतता नहीं रह–रहकर दोहराता है
हर क्षण होती है मृत्यु प्रभु की कहीं
न कहीं
हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता है
हम सबके मन में गहरा उतर गया
है युग
अंधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है,
है दासवृत्त उन दोनों वृद्ध प्रहरियो
की[83]

अंधायुग में विकृतियों, प्रलाप, उद्धत, अनास्था, जी हजूरी और कुंठाओं की प्रचंड आंधी चलती है। इसके वेग में नयी कृष्ण–आस्था का शनैः शनैः जलता दीप कब तक जलता रह पायेगा ? वह बुझ जायेगाः वह बुझ गया है। अंधता, दासता, विकृति, का चित्रण होकर भी पूरे 'अंधायुग' में नये मनुष्य का कोई यथार्थ प्रारूप नहीं है। कवि आधुनिक सभ्यता के अधः पतन में केवल आदिम बर्बरता को रेखांकित करके चुप हो जाता है। यह रेखांकन वह पूरी बेचैनी से करता है। साम्राज्यवादी युद्ध मनुष्य के विश्वासों पर आघात को काव्य–नाटककार ने पहचानने की कोशिश की है और प्रतिहिंसा की अविवेकपूर्ण संस्कृति

83. अंधायुग–धर्मवीर भारती

का पर्दाफाश किया है। हिंसा के बाद कुंठा और विकृति पैदा होती है, क्योकि किसी भी तरह की हिंसा कोई मूल्य नहीं है, वह मूल्यहनन की परंपरा को भीषण प्रतिहिंसा की शक्ल में आगे बढ़ाता है। हिंसा जहां शुरू होती है। वहां रूकती नहीं और जितने अधिक जटिल समाज में होती है, उतनी ही इसकी निरंतरता बनी रहती है। 'अंधायुग' मूलतः हिंसाविरोधी शांतिवादी काव्य न होकर, सिर्फ प्रति हिंसाविरोधी काव्य है।

'अंधायुग' के संदर्भ में रखे गये एक उदाहरण पर गौर किया जाये। मान लिया कि बंगलादेश का मुक्तिसंग्राम एक सकारात्मक मूल्य है। बंगलादेश के सैनिकों ने अपने ऊपर हुए जुल्मों के प्रतिवाद में बिहारी मुसलमानों पर अत्याचार करके कुछ नकारात्मक मूल्यों की स्थापना की हो और मुक्ति संग्राम बुनियादी साध्य मूल्य हो और बंगलादेश के सैनिकों की मर्यादा गौण साधन–मूल के रूप में गिनी जाये, दोनो को बराबर वजन को न भी बताया जाये अर्थात साधनों का थोड़ा–बहुत दुरूपयोग करके भी साध्य तक पहुंचा जा सकता हो तो यह पहुंचना ठीक माना जाये–यह अवधारणा खुद एक मिथक है। जिस साध्य तक पहुंचने की घोषणा लड़ाइयों में की जाती है, अक्सर सिपाही उनसे काफी दूर इसी वजह से रह जाते हैं कि उन्होंने ऐसे उपर्युक्त साधनों और कौशल का इस्तेमाल नहीं किया, जो सही रूप में घोषित साध्य तक पहुंचा सकें। मुक्तिसंग्राम में विजय के बाद क्या

हुआ ? मुजीबुर्ररहमान की हत्या, उनके हत्यारे की हत्या और बंगलादेश में वास्तविक नागरिक और आर्थिक स्वतंत्रता नहीं आयी, सत्ता बदलने के बाद भी।

✦✦✦✦✦

❁ एक कंठ विषपायी ❁

मिथकशास्त्रीय इतिहास इसका प्रमाण है कि सभी देवताओं के बीच आपस में सत्ता संघर्ष चल रहा था। वह सामाजिक आर्थिक संघर्ष का ही मिथकीय रूप था। संस्कृति के भीतर एक एक कर सभी वैदिक देवता प्रभावहीन हो गये थे। अंततः वे अपने देवत्व से हीन हो गये थे और लोकराधना से कट गये थे। नये रूपों में अधिक शक्तिमान होकर विकसित हुए विष्णु और शिव। विष्णु अभिजातवर्गीय व्यवस्था के दिव्य आदर्शो के रूप में उभरे। उन्हें टिके रहने के लिए बदलते समाज के आदर्शो तथा न्याय के अनुरूप अवतारवाद का आश्रय लेना पड़ा। अवतारवाद के आश्रय के बिना विष्णु के बिना विष्णु की वही परिणति होती, जो इन्द्र, वरूण, रूद्र, कुबेर आदि आदि देवताओं की हो चुकी थी। शिव अगर अवतारवाद के बिना भी लोकाराधना में बहुत गहरे विद्यमान रहे, तो इसका कारण यह है कि वह जनता से सीधे जुड़े थे। साधारण जनता अपने जीवन के दुखों कष्टों के बीच उपेक्षित अपमानित और अभिजात वर्गो द्वारा शासित शोषित होकर जी रही थी।

शिव का मिथक आधुनिक जीवन की समस्याओं को साथ लेकर उजागर होता है। उसका समग्र संकेत आज के महानगरीय परिप्रेक्ष्य में घुटन और यातना के मध्य जीते मनुष्य की ट्रैजेडी की ओर है। वह निरंतर सजा भोग रहा है, विभाजित जिंदगी जी रहा है और

जीवन का विष उसी प्रकार पान कर रहा है, जिस प्रकार शिव ने किया। उसकी विध्वंसकारी प्रवृत्तियां सामाजिक-आर्थिक दमन की ही अंतर्प्रतिक्रियाएं हैं। उसे अपने विरोध को व्यक्त करने के लिए सही मार्ग नहीं मिल रहा, इसलिए वह जहां जो चीज पाता है, तोड़ देना चाहता है। डियोनिसिस का एक मिथक है। वह नगर में प्रवेश करता है, और भवन, पुल, परंपरागत मान्यताएं इत्यादि टूटकर चकनाचूर हो जाती हैं। वह आधुनिकतावाद का मिथक है शिव व्यक्तिगत पीड़ा विध्वंसात्मक कर्मो में लगाकर नये मूल्यों की रचना से क्यो निस्पृह और निश्चेष्ट हो गये, क्षणिक अस्तित्व और मृत्युबोध को ही अंतिम सत्य उन्होने क्यों मान लिया, इसे समझना, पहचानना वस्तुतः उनकी आंतरिक वेदना से परिचित होना है।

❁ नागार्जुन की कविता ❁

नागार्जुन एक यथार्थवादी कवि हैं या एक गंवई बोहेमियन और अंलकारिता–प्रेमी रसिक ? उनके लेखन और व्यक्तित्व को लेकर बहुत से अंतर्विरोध सामने लाये गये है। बल्कि उनके राजनैतिक अंतर्विरोधों की विरोधों की परंपरा के आलोक में उनकी भाषा और संवेदना के अंतर्विरोधों को उठाकर पटका गया है।

'भस्मांकुर' में काम के मिथक का लक्ष्य जीवन में सेक्स की मर्यादा स्थापित करना है। इसमें तारकासुर के अत्याचार से सताये जा रहे देवता निसंतान शिव से पुत्र की आशा में, क्योकि उनका पुत्र ही राक्षस का वध कर सकता था, कामदेव को शिव के पास भेजते हैं ताकि वह उनकी तपस्या भंग करके उनके मन में पार्वती के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। बसंत ने कैलाश पर्वत पर अपनी जादुई सुन्दरता फैला दी। प्रकृति रीतिकालीन उद्‌दीपन का कार्य करने लगी।

नागार्जुन को अराजकतावादी कहा गया, क्योंकि अराजकतावादी किसी व्यवस्थित क्रम में अपने को लाना नहीं चाहता। यह उसे आत्मघातक लगता है, वह संगठन–विरोधी होता है, इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है। पश्चिम में जिन्हें अराजकतावादी घोषित किया गया, उन्होंने बहुत सी बुराइयों के खिलाफ निरंतर आवाज उठायी, मनुष्य के आत्महनन के विरूद्ध संगठन– निरपेक्ष होकर लड़ते और कुचले जाते रहे। यह ध्यान में रखने की बात है कि पश्चिम के

अनगिनत अराजकतावादी व्यवस्था विरोध के कारण कुचले गये और जेलों में सड़ाये गये जबकि हमारे यहां वैश्याओं की गली में घूमना और नशा करना ही पर्याप्त माना गया है। पश्चिमी अराजकतावादी निरंतर विद्रोह कि मनःस्थिति में रहते थे, सामाजिक पतन, राजनीतिक दुराग्रहों एवं एकतंत्रवाद के खिलाफ साफ–साफ अपना क्रोध उगलते थे। उनका क्रोध दिशाहीन जरूर था, पर वह उनके अनुभव से फूटा था। हमारे यहां की साठोत्तरी पीढ़ी में थोड़ी बहुत ऐसी बात थी। इसलिए नागार्जुन के मन में राजकमल चौधरी के प्रति आकर्षण था।

❁ कितनी नावें कितनी बार :अज्ञेय के अन्वेषण ❁

प्रौद्योगिकी और मानव रहस्य के मिश्रण से जो चीज बनती है, वह अज्ञेय की कविता है। इसका मिथकीय संसार सामाजिक यथार्थ अथवा प्राकृतिक व्यापारों का प्रतिरूप न होकर मनोजगत की व्यक्तिबद्ध अभिव्यक्ति। उसमें एक तरफ सामूहिक सोच का विघटन झलकता है और दूसरी अंगीकार। छायावादी कविता तक में सामूहिक सोच की परंपरा खत्म नहीं हुई थी, भले वह वैयक्तिक जीवनानुभूति और रोमानी काल्पनिकता पर आधारित थीं। फिर क्या कारण है कि अज्ञेय की कविता अप्रतिरूपात्मक होकर वैयक्तिकबद्ध हो गयी ? इसमें मनोजगत के प्रतीकों की भरमार हो गयी। यह फर्क क्यों आया, मिथकों का व्यक्तिबद्ध संसार कैसा था तथा एक अवधि के साहित्य में इतनी तेजी से यह संसार किस प्रकार फैलने लगा, अज्ञेय के व्यक्तित्व ने उस अवधि की एक पीढ़ी को इतना ज्यादा आकर्षित क्यों किया, प्रयोग की परंपरा के मूल में क्या बात थी, कुल मिलाकर इस मुख्य सवाल को कि अज्ञेय की काव्य–संवेदना एवं मूल्यों की बुनावट का उस काल के आर्थिक–सांस्कृतिक पक्षों से क्या रिश्ता था, समझना अधिक जरूरी है, अज्ञेय पर सतही आक्रमण करके बच निकलने की अपेक्षा।

आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों ने अपने समाज की वास्तविकताओं

पर पर्दा डाल दिया एवं व्यक्ति–केंद्रित दुनिया का महत्व उजागर किया। यह महत्वाकांक्षा विकसित की कि समूचा सागर मछली के पेट में समा जाये। अस्तित्ववादी दर्शन यही बतलाता था कि संसार की सारी वस्तुएं चेतना से पृथक होने पर शून्यता और अन–अस्तित्व के रूप में है– 'मूंदहु आंख कतहु कुछ नाहिं '। उसके अनुसार मानवीय चेतना में भावात्मक तत्वों के साथ निषेधात्मक तत्व भी अंतर्निहित रहता है। एक अणु तुल्य निषेध भी उथल पुथल के द्वारा संसार की सृष्टि के लिए पर्याप्त होता है। इस दर्शन ने अस्तित्व की चेतना में असीम ताकत भर दी। इससे खतरों से खेलने वाले जीवन का ऐसा भविष्यवादी दृष्टिकोण भी विकसित किया, जिसके अनुसार, कोई जाति क्रांतिकारी कार्यक्रमों के साथ अपनी खोई हुई ताकत हासिल करती है।

✦✦✦✦✦

❁ भूरी-भूरी खाक धूल: मुक्तिबोध फंतासी ❁

मुक्तिबोध नयी कविता के कवि किस प्रकार हैं, आज इसकी अपेक्षा यह जानना अधिक जरूरी है कि उन्होंने कविता की दीर्घ सामाजिक–राजनैतिक परंपरा के भीतर अपना कौन–सा स्थान चुना और बाहर भीतर के कसाघातों के मध्य अपने संवेदनात्मक आत्मज्ञान का चेहरा किस प्रकार उघाड़ा। इसके लिए उनकी कविता के मिथकीय संकेतो को जीवन की उस एतिहासिक प्रक्रिया में रखकर समझना होगा, जिसमें भारत की नयी सामाजिक शक्तियों का उदय हो चला था और दबाव कला और राजनीति के हर क्षेत्र पर तेजी से बढ़ता जा रहा था। आधुनिकीकरण की विश्वव्यापी प्रक्रिया में मध्यवर्ग को ललचाती हुई एक ऐसी पतनशील सभ्यता उभर रही थी, जिसकी वजह से राष्ट्रीय जीवन और काव्य–संस्कृति पर संकट आ गया था।

कविता और जीवन के शास्त्र और शस्त्र के रूप में मुक्ति–बोध ने शोषित कृषक वर्ग की तरफ ऐतिहासिक दृष्टि की। अपनी समस्त प्रेरणाएं उन्होंने अपनी धरती और इसके बेटो से ली। शहर का मिथक तोड़ दिया। ध्यान में रखना चाहिए कि यह काम उन्होंने उस युग में किया, जब पश्चिमीकरण हमारी आर्थिक संस्कृति का जरूरी हिस्सा बन गया था। औद्योगिक समृद्धि को ज्यादा गंभीरता से लिया जा रहा था तथा गांवो की बेहद, उपेक्षा हो रही थी। कविता

क्यों, क्रांति भी किसी पूर्वनिर्धारित ढांचे में नहीं होती।

मिथकीय फंतासी मुक्तिबोध का कथ्य नहीं, कथ्य का ढांचा है। कवि सिर्फ इतना नहीं बतलाता कि जीवन में बहुत शोषण—दमन है, इसलिए सर्वहारा वर्ग को संगठित होकर क्रांति कर देनी चाहिए। इतना प्रायः हर कोई सोचता है। एक कवि का कथ्य इससे बहुत ज्यादा होता है, क्योंकि उसका लक्ष्य संवेदनी की पूरी प्रक्रिया को सामने उपस्थित करना है। मुक्तिबोध नेहरू—युग के भयंकर कसाघातों के मध्य बेचैन और जटिलतर होती जा रही संवेदना के कवि है। यह संवेदना अमूर्त नहीं है। उसमें वस्तुगत जीवन की कथा भरी हुई है। कवि की हर फंतासी एक चरित्र और कथावस्तु को लेकर चलती है।

❁ संसद से सड़क तक ❁

हिंदी कविता में प्राचीनता और आधुनिकता के बीच चलने वाला संघर्ष सन् साठ के बाद आधुनिकता और समकालीनता के संघर्ष में बदलने लगा। सौंदर्यवाद की परंपरा का अभिजात्य से ढका खोखला—पन जाहिर हो चुका था, इसलिए नयी कविता का पतन सुनिश्चित हो गया था।

मनुष्य की आधारभूत इच्छा है, आजादी। धूमिल ने इसके पूंजीवाद मिथकों को तोड़ने की जरूरत का अनुभव किया, कारण देश के लोगों को जो राजनैतिक आजादी मिली थी, उसका जीवन की वास्तविक स्थितियों से कोई संबंध विकसित नहीं हो सका था ! धूमिल ने लिखा—'स्वतंत्रता की तीव्र इच्छा और उसके लिए पहल तथा उस पहल के सर्मथन में लिखा गया साहित्य ही समकालीन साहित्य है' उसकी 'स्वतंत्रता' आदमी को आदमी से जोड़ने की पक्षधर थी, मगर आदमी को आदमी की जेब या जूते में डालने की विरोधी थी। यह बराबर की मानवीय गरिमा चाहती थी और इसके लिए आर्थिक मुक्ति की बात करती थी। वह बराबर की मानवीय गरिमा चाहती थी और इसके लिए आर्थिक मुक्ति की बात करती थी। धूमिल का युग भिन्न मान्यताओं पर टिका था। गरीबी और ह्रासशील नैतिकता के मध्य व्यक्ति असहायता और पृथकताबोध का अनुभव करने लगे थे उनका राजनैतिक व्यवस्था से जी उचटने लगा था और पूरा जीवन आत्महीनता

और बेचैनीमय निराशा के अंधकार से भर गया था।

'पटकथा' नव औपनिवेशिक दिमाग के खिलाफ विद्रोह की खुली घोषणा है, क्योंकि यह कविता बार—बार के अनुभव की रोशनी में बतलाती है, कि चीजें कहां से गलत है। यह जीवन के पीछे चल रही उस पूरी कथा का मिथकीय चित्र उपस्थित करती है, जिसका नायक हिंदुस्तान है और जो नव औपनिवेशिक दिमाग द्वारा संचालित हो रहा है। नव औपनिवेशिक दिमाग कभी बरदाश्त नहीं कर सकता कि सामाजिक प्रगति की कोई सही प्रकिया शुरू हो । वह परंपरा की अंधेरी गुफा से आधुनिकतावाद की सड़ी गली तक आदमी को सिर्फ उसके अपने खिलाफ तैयार करता है।

❁सुदामा पाण्डेय का लोकतंत्र❁

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' की रचना धर्मिता की तासीर क्रान्ति–धर्मी जनवाद थी। 'संसद से सड़क तक', 'कल सुनना मुझे', 'सुदामा पाण्डेय का लोकतन्त्र' 'धूमिल की अमर रचनायें है, जिनमें समकाली परिवेश की जहरीली हवायें, आम आदमी की घुटन, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार का यथार्थ और इन विसंगतियों के विरूद्ध आमूल–चूल परिवर्तन का ज्वलन्त स्वर है।

मानव की आधारभूत मौलिक इच्छा है-'स्वतंत्रता'। धूमिल ने अपनी रचनाओं में इसके पूंजीवादी मिथकों को तोड़ने की आवश्यकता का अनुभव किया, कारण देश के लोगों को जो राजनैतिक स्वतंत्रता मिली थी, उसका जीवन की वास्तविक स्थितियों से कोई सम्बन्ध विकसित नहीं हो सका था। धूमिल का लोकतंत्र आदमी को आदमी से जोड़ने का लोकतंत्र है। उनका लोकतंत्र आदमी को आदमी की जेब या जूते में डालने का विरोधी है। वह बराबर की मानवीय गरिमा चाहता है और इसके लिए आर्थिक मुक्ति की बात करता हैं धूमिल का युग भिन्न मान्यताओं पर टिका था। गरीबी और ह्रासशील नैतिकता के मध्य असहायता और पृथकता–बोध का अनुभव करने लगे थे और राजनैतिक व्यवस्था से जी उचटने लगा था और पूरा जीवन आत्महीनता, बेचैनी, निराशा और अंधकार से भर गया था। एक स्वाधीन समाज का युग होना चाहिए कि उसमें मनबुद्धि की स्वतंत्र

क्रियाशीलता, आत्मविश्वास और अहमति के अवसर हों। किन्तु सत्य कुछ और था। मन–बुद्धि सामान के रूप में खरीदी बेची जाने लगी, दूसरों के विश्वास के ह्रास के परिणाम स्वरूप रिश्तों की व्यर्थता उजागर हुई। आत्मविश्वास नष्ट हुआ। असमति के जनतान्त्रिक अधि ाकार पर भी हमले तेज हो गए। इस तरह स्वतंत्रता का मिथक टूट गया। कवि को पूछना पड़ा कि क्या आजादी तीन थके हुए रंगो का नाम है। जिन्हें एक पहिया होता है। या इसका कोई खास मतलब होता है ? धूमिल भी इस मूलभूत विशेषता को नजरंदाज नहीं किया जा सकता कि उसका वैयक्तिक और आस–पास का समूचा संसार आजादी की मौलिक आजादी से उद्‌भूत था।

✦ ✦ ✦ ✦ ✦

❋नयी कविता का आधुनिकतावादी संसार❋

नयी कविता का संसार जीवन को आधुनिक कोण से देखने और उसकी भीतरी दुनिया की बौद्धिक स्वीकृति देकर एक अंर्तदृष्टिमूलक पहचान के विस्तार में अपना अर्थ ढूंढ़ रहा था। वस्तुएं जहां थीं, उनका वहीं होना पर्याप्त नहीं था। व्यक्ति की रूचि और आंतरिकता की मांग के अनुरूप उनके स्वरूप में नये—नये मोड़ आ रहे थे। एक नये संसार की रचना हो रही थी, बाहरी जगत से जिसकी टकराहट बढ़ती जा रही थी। औद्योगीकरण तथा रेगिस्तान की तरह फैलते उपयोगितावादी दृष्टिकोण ने समाज पर आधुनिक पर्त चढ़ा दी थी। उस पर कई पर्त पहले से मौजूद थीं और ऐसा लगता था कि समाज को सब कुछ पसंद है, वह हर चीज की प्रशंसा कर सकता है, सब कुछ पचा सकता है और यहां तक कि कुछ भी खरीद सकता है : व्यक्ति को भी माल बना सकता है।

नचिकेता का शरीर त्यागना वस्तुतः एक मिथक है। वह पीड़ा की सामान्य संभावना से आत्मा स्वतंत्रत करने के लिए मनन की आध्यात्मिक प्रकिया से गुजरता है। मनन से ही सृष्टि के रूप में इच्छाओं का विकास होता है और संसार अंर्तवास्तविक रूप ग्रहण करता है। यम सारा रहस्य खोल करके कहता है कि जीवन का सारा खेल भीतर चलता है, बाह्य जगत तो अभ्यंतर के स्वप्न का

प्रतिफलन भर है—

यह तुझसे उत्पन्न हुआ संसार

स्वप्न है तेरा ही—

तेरी इच्छाओं का विकास है।

तू पायेगा—

बाहर के इस अंधकार से

कहीं बड़ा भीतर प्रकाश है !

तेरे होने और न होने का

बाहर से अधिक पुष्ट

भीतर प्रमाण है।

उसे सिद्ध कर

तू पायेगा—

वहीं स्त्रोत है

वहीं मुक्ति है

वही त्राण है।

नचिकेता वस्तुतः मरता नहीं। वह काल प्रवाल में निरंतर आत्मखोज करके देखता है कि प्रकाश और चिति को सारी लीला के आत्मा के भीतर है, ताण और मुक्ति भी वहीं हैं।

नयी कविता की एक धारा ने निजता की रक्षा में वस्तुतः अपनी वास्तविक निजता खत्म की थी, क्योंकि वह ' नथिंगनेस ' को

व्यक्त करने लगी थी। यहां से दो रास्ते निकलते थे : एक अस्तित्ववाद और दूसरा रूमानियत की तरफ। धर्मवीर भारती ने दूसरा रास्ता चुना। 'ठंडा लोहा' में प्रेम को एकमात्र गम के रूप में देखकर उन्होंने अपनी प्रेम की कविताओं को जिस्मानी संवेदना से भर दिया था। 'कनुप्रिया' में जिस्मानी संवेदना का वर्फीला रूपगठन गलकर अलौकिक जलराशि बन गया, जिसमें कोई धारा नहीं थी। या तो सेक्स की अतिरिक्त अभिलाषा में प्रेम के उत्तेजक अमूर्तन की यह काफी चालाक दृष्टि थी– भाषा से एक छल था अथवा सबकुछ प्रेम की ठहरी भावुकता भर था।

काल–प्रवाह में पूरा जीवन अर्पित कर देने के पूर्व ही नचिकेता यम से अधिक जानता था। उसमें अगर बेचैनी और जिज्ञासा की तीव्र पीड़ा थी तो इस पीड़ा में ही एक मूल्यबोध अंतर्निहित था। अपने को यम के सौंपने के बाद यह आत्म–गुफा में घुस जाता है और सामाजिक चेतना के विकास को व्यक्त नहीं कर पाता। उसमें असहमति के बाद विराग उत्पन्न होता है। और जीवन के प्रति हताशा का भाव पैदा होता है। लेकिन यम तक पहुंचते ही वह काल प्रवाह का द्वंद्व भूल गया। व्यक्ति की इच्छाओं से संसार के विकास की बात भर याद रह पायी। यम भी जीवन में आस्था–चिंतन–मनन की बात करते हैं, कर्म की नहीं।

षष्ठ - अध्याय

उपसंहार एवं उपलब्धि

षष्ठ अध्याय

उपसंहार एवं उपलब्धि

दुनिया के हर समाज में, जिसका लंबा इतिहास है, पिछले हजारों वर्षो से लगातार मिथकों का निर्माण होता आया है और इसमें संदेह नही है कि वैज्ञानिक प्रौधोगिक विकास की उच्चतर मंजिल पर पहुंचे। आधुनिक समाज में भी भले भिन्न उद्देश्य से, मिथक का नया निर्माण ओर प्रयोग जारी है, फिर भी कला और साहित्य के एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में इसकी प्रतिष्ठा हाल की है, क्योंकि दीर्घ समय तक इसे पौराणिक कथा, ब्रह्ममीमांसा या सांप्रदायिक,धार्मिक विश्वास के रूप में देखने समझने की परंपरा थी। बीच में जब कभी तर्क का तूफान उठा, मिथक को झूठ या गप्प भी घोषित किया गया। दोनो ही धरातल पर मिथक के अंतर्निहित ऐंतिहासिक आशय एवं सौदर्यात्मक रूप की उपेक्षा हुई कहने वालो ने मिथक को तर्कबुद्धि का शत्रु तक कहा सच पूछा जाये, तो नवजागरण के बाद बुद्धिवादी, राष्ट्रीय और प्रगतिशील आंदोलनो में व्यापकता के साथ ही मिथको की विरासत का पुनः आविष्कार हुआ।

मिथक की विवेचना के इतिहास में उस घड़ी एक मोड़ आया, जब सिर्फ लोक विश्वास की जमीन से नहीं, बल्कि इतिहास, भाषाशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, कियात्मक संरचनावाद आदि

विकसित ज्ञान—विज्ञान के औजारों द्वारा मिथक की जांच और व्याख्या की परंपरा स्थापित हुई। जो बुद्धिवादी विचारक परंपराद्रोही न थे और अपने—अपने देश की सांस्कृतिक विरासत का महत्व समझते थे, उन्होने इस धारणा का खंडन किया कि जो कुछ, झूठ, गप्प क्रमहीन, अतार्किक या अयथार्थ है, वही मिथक है। नवजागरण की बौद्धिक छत्रछाया में मिथक की चर्चा के केंन्द्र में यह सवाल मुख्य न था कि मिथक सच है या नहीं। मुख्य सवाल यह था कि प्राचीन देवकथाओं और अन्य पुरावृत्तो का मूल आशय क्या है वे कथाएं वस्तुतः क्या उपस्थित करती है। बुद्धिवाद की रोशनी में अब साफ था कि कथाओं का बाहरी ढांचा झूठा है, लेकिन यह भी साफ हो चला था कि इनका आशय झूठा नही है। एक न एक गूढ़ या अमूर्त ऐतिहासकि सच्चाई हर कथा के मुखौटे के अंदर मौजूद हैं। इस काल में मिथक खूब जोर— शोर से बुद्धिवादी औजारों द्वारा प्रतीकात्मक व्याख्या के विषय बने ओर काव्य में भी इनके प्रयोग जमकर हुए।

मिथकों में हमारी परंपरा के अनेक अर्थ और संभावनाएं सुरक्षित है जो हमारे जीवन के ही अर्थ और संभावनाएं है। सैकडो हजारो वर्षे से भावप्रवण सौंदर्यप्रेमी कलाकार समाज के यथार्थो और लक्ष्यों को मिथक का रूप देते आये है। किसी जमाने में उनका औजार जादू और धर्म था, आज विज्ञान है। निःसंदेह शोषक वर्ग ने भी अपने मिथको का प्रचार उसी स्तर पर किया तथा रूढ़ रीति या

चमत्कार को मिथक के रूप में उपस्थित कर भ्रम फैलाया। लेकिन काव्य तथा कलाओं में मिथको की पुनर्रचना किसी भी युग में गहरे प्रतिवाद से कम न थी। यह प्रचलित रूढ़िवाद और मतांधता का प्रतिवाद थी। जब वाल्मीकि ने 'रामायण' लिखी, उनका राम का मिथक एक गहरा प्रतिवाद था। जब भिन्न परिस्थिति में 'तुलसीदास' लिखा तब भी निराला की 'राम की शक्तिपूजा' शोषक वर्ग के किस प्रचार का हिस्सा है ? मुक्तिबोध ने अपनी कविता में मिथको का प्रयोग किस वर्ग के हक में किया ?? अभिव्यक्ति के संकट एवं दमन की घडियो में मिथक से बढ़कर ओर किसने अपनी उपयुक्तता प्रमाणित की ??? यह ठीक है कि हम वाल्मीकि के आध्यात्मिक राज्य या तुलसी के रामराज्य में विश्वास नही कर सकते, लेकिन उस स्वप्न में विश्वास कर सकते, जो उन्होने अपने काल की मनुष्यता की राह ढूंढते हुए मिथक की आंखो से देखा था। मिथक अपने दिक् और काल से जुड़े कलात्मक पुनः सृजन है। ये मिथक शास्त्रीय कथाओं से भिन्न है। पुराण कथा या पुरावृत्त अतीत के मिथक है किंतु मिथक का केवल उन्हीं में परिसीमित नही किया जा सकता। यह सिर्फ अतीत की विधि नहीं है। इसका आधुनिक विकास हुआ है। समाज बदला है तो इसके साथ लोगों का मिथक के प्रति रूख और व्यवहार की जानकारी के बिना अधूरा है क्योंकि मिथक का स्वरूप एक-सा कभी नही रहा कथात्मक एवं तात्विक दोनों स्तरों पर इसमें रूपान्तर आये है। लोक

विश्वास भी कब स्थिर रहें, इनमें भी रूपांतर आये है। खासकर भारतीय मिथको का स्वभाव बहुत लचीला रहा है, इनकी व्याख्याको परिपूर्ण नही समझा गया। इसी वजह से भारतीय मिथको में स्थान और काल के हिसाब से अनेक रूपभेद मिलते है जिन्हें विकास में ही सही पहचाना जा सकता हैं। भारतीय मिथको का रूपान्तरण और विकास उसी ऐतिहासिक पद्धति से हुआ है, जिस ऐतिहासिक पद्धति से भारतीय समाज का हुआ है इस कम में मिथक के सौंदर्यात्मक रूपों को समाज के आर्थिक या राजनैतिक रूपो से कभी कम मान्यता नही मिली। क्योकि प्राचीन तथा मध्यकालीन मिथकीय अभिव्यक्तियों में यथार्थवाद का एक न एक स्तर था, जिस तरह आधुनिक और समकालीन यथार्थवादी अभिव्यक्तियो में नये मिथकीय अन्वेषण की कमी नही है : आधुनिकता और यथार्थवाद के कई अनुभवों के कलात्मक रूप मिथकीय है।

मिथक में अर्थ तभी हो सकता है, जब उसकी संरचना का कोई आर्थिक अथवा सामाजिक तर्क हो। एक ही मिथक के इतने अधिक पाठांतरित रूप मिलते है और कुछ इस हद तक विरूपित स्तर पर मिलते है कि इनकी सामान्य संरचना निर्धारित करके निश्चित अर्थ खोजना एक मुश्किल व्यापार हो जाता है। साहित्यिक मिथको को उनके सामान्य अथवा बुनियादी सामाजिक स्वरूप से विच्छिन्न करके देखा जाय, तब मिथको का सही अर्थ खुलने में और अधिक बाधाएं

आती हैं क्योकि कला—साहित्य के मिथक अपनी कल्पनाशील संस्कृति के एतिहासिक विकास के बाहर रहकर नही बनते। उनकी रचना—प्रक्रिया गहरे सामाजिक विश्वासों से जुड़ी रहती है। अतः मिथक में सिर्फ संरचना नही होती एक सामाजिक अंतर्वस्तु भी होती है। मिथक की संरचना में परिवर्तन होता रहता है। उसके भीतर से कुछ—न—कुछ हमेशा निकलता और जुड़ता रहता है मिथक द्वारा हर सामाजिक यथार्थ के नये नये प्रतीकात्मक या सांकेतिक रूप तब से व्यक्त हो रहे हैं जब से मनुष्य ने कुछ कहना शुरू किया : काव्यात्मक शब्द अथवा कोई कथा। मिथक का अर्थ उस कथ्य में निहित है, जो मनुष्य व्यक्त करना चाहता है, जिस भाषा में व्यक्त करना चाहता है, वह भले अवैज्ञानिक अथवा सतह पर झूठी लगे, किंतु उसका कथ्य सच्चाई से भरा होता है। मिथक को मनुष्य के एतिहासिक अस्तित्व का सामाजिक कथ्य मानना चाहिये।

मिथक जातीय अतीत का सबसे बडा खजाना है। इसकी सार्थकता के सवाल पर मिथक शास्त्र ही नही इतिहास, भाषा विज्ञान, नृतत्वशास्त्र दर्शन और समाजशास्त्र के क्षेत्रो में अभी तक बहस चल रही है। अंग्रेजी मिथ से ही हिंदी में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मिथक शब्द चला दिया। इसका मूल स्त्रोत ग्रीक 'मुथोस' का इस्तेमाल किया जाता था। साहित्यिक आलोचना के अंतर्गत इसे 'कथनक' के अर्थ में भी ग्रहण किया गया। भगवत शरण उपाध्याय ने मिथक का एक स्त्रोत

संस्कृत का 'मिथ' माना, जिसका अर्थ, है 'रहसि' (जिससे रहस्य बनता है) अर्थात एकांत , निर्जनता उन्होने 'मिथ' के विन्यस्त संयोग में 'मिथुन' की ओर संकेत किया, जिसके प्रमाण है संस्कृत का समूचा ललित साहित्य और भारतीय मंदिर। मिथुन विपरीतलिंगी जोड़े को कहते है। इससे क्लाड लेबी स्ट्रास के 'विरूद्धो के युग्म' की संगति बैठती है उसका कहना है हर मिथक में जीवन—मृत्यु सकारात्मक—नकारात्मक, पितृसत्ता—मातृसत्ता, शांति—युद्ध, स्त्री—पुरूष के युग्म मिलते है इस युग्म के क्रिया—व्यापारों से ही मिथक की रचना होती है। पौराणिक कथाओं में विरूद्धो का युग्म सत—असत पक्ष के रूप में भी मिलता है। इन सबके बावजूद मिथक को मिथुन की संवेदना तक सीमित रखना उचित नही है। जो कि जीवन की सामाजिक प्रकिया में मैथुन स्त्री—पुरूष के बीच का एक मुख्य अंर्तसंबंध है किंतु औरत से नातेदारी के अलावा व्यक्ति के सामाजिक होने के समान रूप से कुछ और जरूरी आधार भी है। उसे दूसरो को अन्य बहुत कुछ देना पडता है और उनसे लेना भी होता। वह वस्तुओ और सेवाओ का विनिमय करता है, वह भाषा की विविध तरह की सामाजिक सौदर्यबोधात्मक संरचनाओं में विचारों का आदान—प्रदान करता है। यौन सम्बन्ध, वस्तु और सेंवाये, भाषा सामाजिक जीवन के इन सभी तरह के विनिमय रूप से मिथक की कलात्मक संरचना का संबंध है। मिथकों में उपरोक्त तरह के विनियमियों के चरित्र का

विकास अन्वेषित किया जाये तभी उनका वास्तविक अर्थ प्रकट होगा, क्योकि मिथकों में सामाजिक यथार्थ का ही कलात्मक प्रतिफल होता है।

भारतीय मिथकों का सांस्कृतिक विकास सृजनात्मक द्वंद्वो से हुआ हैं, तथा कथित समझौतो अथवा सामाजिक पद्धति से नहीं। हमारे देवता भी आपस में लड़ते रहे हैं । वैदिक देवताओं में सत्ता के लिए आपसी झंगड़े थे। रूद्र, इन्द्र, अग्नि, सूर्य के बीच निरंतर सत्ता–संघर्ष हुए, क्योकि उनमें फुट थी। हरेक का अपना–अपना अहं था जिसका परिचय बहुत सी कथाओ में मिलता है। केन उपनिषद में वैदिक देवताओ के बारे में उस समय की एक कथा है, जब ब्रम्ह से परिचित नही थे अर्थात विराट आत्मसत्ता से परिचित नही थे। वे तिनके तक को उड़ाने, जलाने या नष्ट करने में अक्षम साबित हुए। वैदिक मिथकों में एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों की प्रधानता हो गयी थी। केन उपनिषद को एकाधिकारवादी वस्तुजगत की प्रतिक्रिया में भावजगत की स्थापना करनी थी, इसलिए उन्होने वैदिक देवताओ की सोच को भ्रम, अहंकार एवं मूर्खता की संज्ञा दी। ब्रम्ह की सत्ता करने के लिए ही उन्होने एक कथा रची, जिसमें ब्रम्ह ने वैदिक देवताओ की शक्ति की परीक्षा लेते हुए उनसे एक तिनका उड़ाने या नष्ट करने के लिए कहा था, पर वायु, अग्नि, इंद्र इत्यादि में से कोई ऐसा न कर सका था। उनका अहंकार चूरचूर हो गया था और उनके वस्तुवाद की सीमा

जगजाहिर हो गई थी। कला और धर्म में कभी एकरूपता थी, इसलिए मिथक भी धार्मिक भावना से जुड़े थे। धर्म निरपेक्षीकरण की आधुनिक प्रक्रिया में कला और मिथक धार्मिक संसार से बाहर निकल आये, वैज्ञानिक राजनैतिक चेतना के धरातल पर संस्कृति का एक भिन्न पहलू सामने आया और मिथक रूढ़िवादी आचार प्रणाली से मुक्त हो गया। धर्म की महान परिभाषाएं नये जीवन के लिए उपयोगी नहीं रह गयी, अतः यह स्वाभाविक था कि मिथक जातीय जीवन में अपने नये आधार की तलाश करता अर्थात जातीय अतीत की पुर्रचना करता। मिथक की विकासशीलता की वजह से यह अतीत स्थिर नहीं रहा, नये आकार और क्रम में ढलता गया। जगत में कुछ भी शाश्वत नही रह गया था, लेकिन कला और जीवन में तेजी से हो रही आधुनिक उथल पुथल के भीतर चारों तरफ अतीत की चीजें नया वेश धारण कर रही थी, यहां तक कि धर्म ने भी बुद्धिवाद की शरण में जाने की प्रक्रिया शुरू कर दी थी। उन्नीसवीं सदीं का राष्ट्रीय नवजागरण इसी प्रक्रिया की देन था। एक जमाने में तुर्की के मुस्तफा कमाल और हाल में चीन के माओ से तुंग ने इसी प्रक्रिया में धर्म के रूढ़िग्रस्त परिभाषाओं की जड़ खोद डाली थी। अतः अतीत की एक चीज धर्म का आधुनिक जीवन के विज्ञान में क्या स्थान हो सकता है, इसे लेकर काफी बहस चली। इसी बहस में ईश्वर की जगह मनुष्य ने धर्म की जगह राजनीति ने ले ली। फिर भी मिथकों का स्थान बना रहा, क्योकि

धर्म ने एक नये परिवेश में सिर्फ तथा अपना स्वरूप बदला था, हमारा अतीत नष्ट नहीं हुआ था।

भाषा और मिथक का स्त्रोत एक है— जन-समाज। भाषा के अस्तित्व ग्रहण करने की प्रक्रिया में मिथक भी बने। आदिम अवस्था में मानवीय जरूरतों एवं तकलीफों को व्यक्त करने वाली ऊबड़ खाबड ध्वानियां निश्चित अर्थ व्यवस्था से जुड़कर शब्दों में परिवर्तित हो गयी। उस युग की मिथकीय संवेदना इन शब्दों से भिन्न न थी। ये शब्द आदिम संस्कृति से अभिन्न थे। मनुष्य के अलावा दूसरे जीवों के संसार में सम्बन्धों की यथास्थिति थी और उनमें पारस्परिक विनिमय का विवेक नहीं था। इसलिए जानवरो के लिए भाषा कोई जरूरत नहीं बनी। भाषा मनुष्यों के अस्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए थी। इसी रूप में वह सामाजिक राजनैतिक परिवर्तन की प्रक्रिया में विकसित होती गयी। एक सृजनात्मक शक्ति के रूप में मिथक तब भाषा से अलग नहीं था, क्योकि यथार्थ का स्वरूप मिथकीय था। आरम्भ से ही मिथक सामूहिक अभिव्यक्ति के आस्थाशील माध्यम के स्तर पर भाषिक संरचना का एक बड़ा हिस्सा था। वह भाषा की सृजनात्मकता को सांस्कृतिक यथार्थ से जोड़कर रखनेवाला प्रधान तत्व था। उपनिषद् में वाक महत्व मानवीय अस्तित्व के संदर्भ में निरूपित है। भाषा के बिना मनुष्य अपने अस्तित्व को व्यक्त नहीं कर सकता, मिथक के बिना वह अस्तित्व और पदार्थ के बीच सार्थक

संबंध कायम नहीं कर सकता। अतः भाषा की समस्या मनुष्य के अस्तित्व की और मिथक की उस अस्तित्व के अर्थ की है।

पहले मिथक का अध्ययन भाषा विज्ञान और काव्यशास्त्र के क्षेत्र तक सीमित था। भाषिक संरचना का विकास क्यों और किन परिस्थितियों के दबाव से होता है, इसका उत्तर न भाषा वैज्ञानिकों या वैयाकरणो के पास था न साहित्यिक आचार्यों के पास। भारत में भाषा को अपने आप में एक समग्र दर्शन का दर्जा पाणिनी से लेकर रीतिकालीन आचार्यों और रामचन्द्र शुक्ल तक किसी के काल में न मिल सका। राजनैतिक आजादी के बाद सोचा समझा जाने लगा कि भाषा का एक दर्शन है, जो राष्ट्रीय सामाजिक आधार पर विकसित होता है। इतिहास के बारे में हमारा कोई नही था और यह अधिकतर वैसा ही लिखा जा रहा था, जैसा अंग्रेजी शासक वर्ग चाहता था। हमारा मुल्क राजनैतिक बेड़ियो से मुक्त होकर सांस्कृतिक, आर्थिक मुक्ति संघर्ष के लिए उद्वेलित होने लगा तो समाज, इतिहास और भाषा के अंर्तसंबन्धित दर्शन की स्थापना की बात भी उठने लगी, बौद्धिक जगत में अब भारतीय मिथकों की धार्मिक अंधविश्वासपूर्ण या सांप्रदायिक विवेचना पीछे छूटती जा रही है। इसके स्थान पर वैदिक अथवा पौराणिक कथाओं के राजनैतिक आर्थिक आधार को ऐतिहासिक दृष्टि से समझने की भूख बढ़ रही है। देवी देवता, टोटम, प्रतीक पुरूष, नायक, सांस्कृतिक नेता, आद्यरूप आदि के सामाजिक और

भाषिक रूप की विवेचना नये सिरे से जोर पकड़ रही है/ भारतीय मनुष्य के अस्तित्व और इसकी भाषा के वास्तविक विकास के बारे में लंबे काल तक हम लोग बहुत अनजान रहें। अब इस पर काफी सामग्रियां प्रकाश में आ रही है। कि हमारी जाति का गठन किन सांस्कृतिक और आर्थिक तत्वों के मेले से हुआ, इसके राजनैतिक बदलाव के एतिहासिक मोड़ कौन से है, मानवीय विश्वासो की सामाजिक धुरी क्या है और हमारी भाषा का विकास सामाजिक तंत्र में किन किन बदलावों के परिणाम स्वरूप हुआ।

काव्यशास्त्र की परंपरा के अनुसार कवियों का अपना सच ही कवि समय होता है। प्रचलित सामान्य अर्थ का विरोधी अर्थ स्वीकार कर लेना तथा देष काल की निरपेक्षता में इसकी परंपरा को अक्षुण्ण रखना ही कविसमय है। कविसमय यथार्थ के विरोधी होते है तथा साधारण जिंदगी में घटित नहीं होते। कविता की रोचकता बढ़ाने के लिए कवि की रोचकता बढाने के लिए कवि न घटनेवाली उक्तियों का प्रयोग करते हैं। वामन ने अपने अंलकार सूत्र में काव्य समय का उल्लेख किया है (5—1)। कवियो के इस सच को रसज्ञ निर्दोष मानकर स्वीकार कर लेते है। कविसमय का एक रूपकात्मक अर्थ भी होता है। चकोर चंद्र ज्योत्सना का पान करते है। यह एक कविसमय है। अमरकोष के टीकाकार क्षेमस्वामी ने बतलाया है कि 'चकोर चंद्रिका से तृप्त होते है' (अमर 5—35 टी0)। चन्द्रिका पान वस्तुतः

सौंदर्यानुभूति का रूपात्मक संकेत है। मिथक में भी रूपकात्मक संस्कृति की गतिशीलता के कारण परिवर्तनशील होती है, जबकि कविसमय रूढ़िया बन जाते है। इनमें अर्थ के विकास की संभावना नही रहती। इस प्रकार कविसमय का प्रयोग मध्यकालीन मिथक काव्य में तो हुआ, किंतु आधुनिक मिथक कविता में इसे महत्व नहीं दिया गया। मध्यकालीनतावाद स्थगित बोध से अनुप्रेरित था। इसलिए उसकी रूढ़ियों को व्यक्त करने के लिए कविसमय का प्रयोग हुआ। रात के समय चकवा और चकवी एक दूसरे से बिछुड जाते है, यह किसी ने नही देखा। पक्षियों में मनुष्य समाज की तरह कोई निश्चित जोंड़ा होता भी नही पर यह बात कविसमय के रूप में लोक प्रिय है। कवि के कई रूढ़ विश्वास जनता के दिमाग में घर कर जाते है और जल्दी दूर नही होते। कविसमय मध्यकालीनतावाद की अभिव्यक्ति हैं। आधुनिक हिन्दी आलोचना में हम उन्हें काव्य रूढियों के रूप में भी जानते है।

मिथक को रूपकात्मक मानकर उसके आध्यात्मिक अर्थ को महत्व देने की परम्परा शुरू से थी। किया अनुष्ठानों के स्तर पर भी रूपकों का इस्तेमाल टैबूज को व्यक्त करने के लिए होता रहा। रूपकात्मक शब्दों का प्रयोग ऐसे शब्दों और वस्तुओ के बदले किया गया, जिन्हें प्रत्यक्ष जुबान पर लाना वर्जित था। रूपकात्मक कियाएं उन कियाओं के स्थान पर संपादित की जाती थी, जिनमें सीधे करने

का निषेध था। यहूदियों के बीच इन्हीं वर्जनाओं के कारण रूपक गढ़ने की प्रवृत्ति अतिविकसित थी। वे यादेह को उसके नाम से नही पुकारते, उसे चट्टान, सिंह या सूर्य के नाम से पुकारते थे। हिन्दू समाज मे चेचक निकलने पर कई रूपकात्मक कार्य संपादित करने की परंपरा बनी। तेल, हल्दी, केले के खंभे, बेलपत्र पीली साड़ी, तेल गोबर, अक्षत सुपारी आदि पदार्थ विविध अवसरों पर अब भी रूपकात्मक इस्तेमाल में आता है, रूपक कथा में दूसरे का खुला कथन मुख्य विषय है। मिथक को रूपकात्मक बनाकर, प्रस्तुत का निषेध किये, बिना आध्यात्मिक कथन की परंपरा स्थापित हो गयी। आदिम मिथक रूपकात्मक नहीं थे। वे प्रतीकात्मक या सांकेतिक थे। मध्यकाल में उन्हें रूपककथात्मक बनाने के पीछे यथार्थ–विरोधी दृष्टि थी, जो भाषा के बाहरी ढांचे को भी सच मानती थी और उससे आध्यात्मिक अभिप्राय की संगति भी ब्रैठा देती थी। मिथक की रूपकात्मकता सामान्यतः अलौकिकता, आध्यात्मिक दर्शन या ईश्वरी शक्ति के बोध से समन्वित थी। बौद्धिक संक्रमण के युग में मिथक की संरचना में परिवर्तन हुए। अलौकिकता के स्थान पर लौकिक जीवन के मामलो की अभिव्यंजना प्रमुख हो उठी। नैतिकता के स्वरूप में परिवर्तन आया और जीवन की भौतिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य के प्रश्नों की निरंतरता स्थापित हुई। मिथक प्रतीकात्मक और सांकेतिक स्तर पर अधिकांधिक विवेचित किये जाने लगे।

प्रतीक और मिथक दोनों जातीय सांस्कृतिक चेतना की निर्मितियां हैं। दोनों के बीच का अंर्तसंबंध विकसशील है। एक ही पेड से जिस प्रकार पत्तियों की कई पीढियां आती जाती है मिथक के भीतर प्रतीक भी इसी प्रकार बदलते रहते है। और सामूहिक अनुभव परंपरा का विकास करते है। नयी पत्तियों के मध्य पेड़ भी नया जीवन प्राप्त करता हैं । वह पुराने जैसा नही रह जाता। मिथक नयी प्रतीकात्मक अवधारणा के मध्य न शरीरविज्ञान लेकर उपस्थित होता है। नये प्रतीक जीवन के अर्थो की ओर ले जाते है। मनुष्य जीवन को अच्छी तरह समझने के लिए हमे भाषा और अर्थो की ओर ले जाते है। मनुष्य जीवन को अच्छी तरह समझने के लिये हमें भाषा और व्यवहार के परिवर्तनशील प्रतीको की मूल संरचना को जानना होगा। किसी प्रतीकात्मक दशा में बदलाव वस्तुतः सामान्य धारणा, मूल्यबोध और संप्रेषण की प्रणाली पर निर्भर करता है। मिथक मे दशाओं का बदलाव इसी आधार पर होता है। प्रतीकात्मकता मिथक के प्रतीयमान स्वरूप को मांजती खरोचती है। उसे नयी अवधारणा तथा मूल्य बोध के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार विकसित करती है कि वह परंपरा का होकर भी पुराना और विसंगत न लगे। प्रतीक जल्दी पुराने पड़ जाते है, पर मिथक अक्सर पुराने नही पड़ते उनका फलक बडा होता है।

आधुनिकतावाद की अद्यतन प्रवृत्ति है –संरचनावाद। उसने साहित्य को नयी जमीन पर खड़ा करने के लिए इसके स्वतंत्र स्वरूप

की वकालत की। 'लेखन का क्षेत्र और कुछ नहीं, लेखन होता है' की नयी अवधारणा कलावाद के पुराने विशुद्ध रूप से इस अर्थ में भिन्न थी कि इसने अधिक क्रांतिकारी स्तर पर लेखन के इलाके की स्वायत्तता घोषित की। उसके लिए साहित्य संकेतो का ढांचा है। पेरिस, चेकोस्लोविया, हॉलैंड, रूस इत्यादि में रूपतंत्रवाद के इस नये दौर में एक चेष्टा हो रही है कि हानिकर तत्वों को निकालकर रूपगठन को साहित्य की केन्द्रीय समस्या कैसे बनाया जाये इसलिए 'मैं' अथवा 'मेरा' की अवधारणा को नष्ट कर दिया गया और एक ऐसी भाषातात्विक दृष्टि का विकास किया गया , जिसके तहत शब्द की अपनी मूल्य संरचना होती है। और उसका संकेत विज्ञान होता है।

भाषा जब तक रहेगी मिथक भी रहेगा। अपने परिवर्तनशील रूप में आदिम व्यवस्था से सर्वहारा की अपनी व्यवस्था तक भाषा की सृजनात्मक शक्ति के रूप में सामाजिक यथार्थ के वैश्विक ढांचे को निरंतर प्रस्तुत करते रहना उसका काम है। जनता की सर्वहारा चेतना के भी मिथक होते है। वह संगठित या वैयक्तिक धरातल पर जहां कहीं मौजूदा व्यवस्था का प्रतिरोध करती है, उसके दमन का सामना करती है, अपने विश्वासों को कला–साहित्य में व्यक्त करती है– वहां वह मिथको की भी रचना करती है। हर हिंसात्मक या शांतिपूर्ण संघर्ष कुछ न कुछ संकेत करता है कि बुर्जुआवाद का पतन ऐसे नही, ऐसे

होगा। उसके जरिये और कुछ नहीं, मनुष्य का विकासशील, सांस्कृतिक, आर्थिक अस्तित्व व्यक्त होता है इसके पूरे अर्थ के साथ।

❁ परिशिष्ट ❁

1. उपजीव्य ग्रन्थ–

प्रिय प्रवास	–	अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
साकेत	–	मैथिली शरण गुप्त
कामायनी	–	'जयशंकर प्रसाद'
राम की शक्तिपूजा	–	'सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
रश्मिरथी	–	'रामधारी सिंह दिनकर''
उर्वशी	–	'रामधारी सिंह दिनकर''
अंधायुग	–	'डॉ0 धर्मवीर भारती'
एक कंठ विषपायी	–	'दुष्यंत कुमार'
नागार्जुन की कविता		
कितनी नावों में कितनी बार	–	'अज्ञेय'
भूरी–भूरी खाक धूल	–	'मुक्तिबोध'
संसद से सडक तक	–	'सुदामा प्रसाद पाण्डेय 'धूमिल'
सुदामा पाण्डेय का लोकतंत्र	–	'सुदामा प्रसाद पाण्डेय 'धूमिल'

2. उपस्कारक ग्रन्थ –

मिथक और आधुनिक कविता – 'शंभुनाथ'

कविता का सृजन और मूल्यांकन – 'डॉ0 सुधेश'

रचना के सरोकार – 'रत्नेश कार्तिक'

मिथक और आधुनिक कविता – 'शंभुनाथ'

साहित्य और मिथक – 'गौरीशंकर नौटियाल'

इतिहास और कविता – 'विमल चन्द्र'

History of Miths - 'RicHard Chaise'

कला की सामाजिकता – 'सुधा पाराशर'

साहित्य से साक्षात्कार – 'मलयज'

साहित्य : नया मूल्यांकन – 'डॉ0 प्रेम शंकर'

साहित्य की अन्तर्यात्रा – 'डॉ0 सुधेश'

एस्थेटिक हिस्टारिकल समरी – 'कोचे'

अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा – 'रमेश कुंतल मेघ'

हिन्दी साहित्य और मिथक – 'डॉ0 रामराम'

मिथकीय परिप्रेक्ष्य और साहित्य — 'मृदुला सेन'

पाश्चात्य मनः सिद्धान्त — 'शशिमुदिराज'

फंसाली और मिथक — 'डॉ0 रत्ना दिवाकर'

साहितय और संस्कृति — 'डॉ0 अजय कुमार'

हरीधररसपर — 'रमेश रंजक'

साहित्य की सृजन धार्मिक — 'शिवकुमार'

साहित्य और संस्कृति — 'बल्देव उपाध्याय'

साहित्ययिक निबन्ध — 'राजनाथ शर्मा'

काव्य की अन्तर्यात्रा — 'विश्वनाथ प्रसाद'

सौन्दर्य और कला — 'राजेन्द्र बिस्ट'

हिन्दी कव्य : युगीन संदर्भ — 'डॉ0 सुभद्रा पैठणकर'

नही कविता : कथ्य एवं विमर्श — 'डॉ0 अरूण कुमार'

अष्टछाप के कवियों की सौन्दर्यानुभूति — 'डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद'

'बच्चन' के साहित्य में सौन्दर्यानुभूति — 'डॉ0 माधुरी शुक्ला'